नरेश मेहता के साहित्य में
सांस ृति बोध

इलाहाबाद विश्वविद्यालय को डी० फिल्० उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० राम कमल राय
अवकाशप्राप्त रीडर-हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

शोधकर्त्ता
मार्तण्ड सिंह
एम० ए० हिन्दी
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
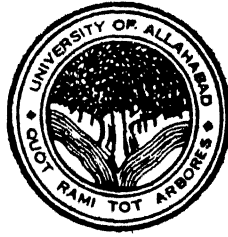
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
1996

अध्याय प्रथम्

संस्कृतिक चेतना का भारतीय सन्दर्भ।

(क) भारतीय संस्कृति के मूल स्वरों की पहचान .

सन्दर्भ :

ऋग्वेद, ईशावास्योपनिषद्, कठोपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता ।

अध्याय द्वितीय

नरेश मेहता के चिन्तन ग्रन्थों में भारतीय - संस्कृति की उपलब्धि

(क) काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व

अध्याय तृतीय

नरेश मेहता के काव्य-विकास में भारतीय संस्कृति के तत्वों की तलाश .

सन्दर्भ :

(क) दूसरा सप्तक

(ख) वनपाखी । सुनो

(ग) बोलने दो चीड़ को

(घ) मेरा समर्पित एकान्त

(ड) उत्सवा

(च) अरण्या

(छ) आखिर समुद्र से तात्पर्य

(ज) देखना एक दिन

(झ) पिछले दिनों नंगे पैर

अध्याय चतुर्थ।

नरेश मेहता के खण्ड - काव्यों में पौराणिक सन्दर्भों के माध्यम से भारतीय संस्कृति की पहचान ।

प्रथम अध्याय

सांस्कृतिक चेतना का भारतीय सन्दर्भ

।। क ।। भारतीय संस्कृति के मूल स्वरों की पहचान

सन्दर्भ

ऋग्वेद, ईशावासोपनिषद्, कठोपनिषद्, केनोपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता आदि।

भूमिका

यह भारत महामानवों का महासागर है - आर्यों आये । अनार्यों आओ, हिन्दू , मुसलमान, क्रिश्चियन सभी आओ । इस पुण्यमय भारत तीर्थ में स्नान करो । भारतीय संस्कृति सर्व समावेशक रही है । उसने कभी किसी धर्म विशेष, पंथ विशेष, राष्ट्र विशेष की बात नहीं कही, उसने समस्त भूमण्डल को अपना परिवार माना, सब के कल्याण की कामना की ।" वसुधैव कुटुम्बकम " भारतीय संस्कृति की भूमिका है ।" सर्वे भवन्तु सुखिन: " सभी सुखी हों यह उसकी प्रार्थना है । विश्व मैत्री उसका स्वभाव है । मेरी सभी से मैत्री हो, किसी से वैर न हो यह उसकी आकांक्षा है । भारतीय संस्कृति सागर सदृश है, जिसमें हर उपासना पद्धति का, हर धर्म एवं पंथ को स्वीकार कर उन्हें अपना लेता है अर्थात् अपना ही बना लेता है । इसी कारण यूनानी, पारसीक, शक, हूण ये सभी इस विशाल सांस्कृतिक चेतना में समायोजित होते गये । यहाँ तक कि इस्लाम जो अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के मंसूबों को लेकर चला था । वह भी भारत में आकर कुछ परिवर्तित हो गया । यद्यपि भारतीय मुसलमान धर्म के मामले में अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखने में कामयाब हुए, लेकिन संस्कृति की दृष्टि से वे भी अब भारतीय हैं । भारतीय संस्कृति की पाचन शक्ति प्रचण्ड

मानी गयी है । इसका कारण यह जान पड़ता है कि जब आर्यजन संस्कृति का निर्माण करने लगे तब उनके सामने अनेक जातियों को एक संस्कृति में पचाकर समन्वित करने का सवाल था । जो उनके आगमन से पूर्व ही इस देश में बस रही थी । अतएव उन्होंने आरम्भ से ही हिन्दू संस्कृति का ऐसा सर्वग्राही एवं लचीला ढांचा तैयार किया, जो प्रत्येक नवीन संस्कृति से लिपटकर उसे अपनी बना सके ।

इसी विशिष्टता के कारण हमारी सांस्कृतिक सम्पदा अकूत है । जो भी इतने लम्बे अर्से में संग्रहीत हुआ विकसित हुआ, एक दूसरे को प्रभावित करने में समर्थ हुआ । वह सब हमारा है । इसमें वेद, उपनिषद, रामायण , महाभारत, गीता, त्रिपिटक, जैन आगम, पुराण, काव्य-दर्शन के अतिरिक्त यूनानी, अरबी, ताजिकीय ज्ञान-विज्ञान, फारसी काव्य, तिरुक्कुरल तोल्काप्पियं, गिरिजनों एवं घुमन्तुओं के आख्यान गीत, असंख्य लोककथाएं, विभिन्न-भाषाओं की कविताएं, अनेक शैलियों के चित्र शिल्प एवं स्थापत्य ,भारत के साथ जुड़े हुए स्वदेशी एवं विदेशी विचार ये सभी सम्मिलित हैं । एक दूसरे से पृथक दिखते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं ।

संस्कृति की परिभाषा

संस्कृति शब्द " सम " उपसर्गपूर्वक " कृ " धातु में " क्तिन " प्रत्यय लगाकर बना है । इसका शाब्दिक अर्थ है - अच्छी स्थिति, सुधरी हुई दशा इस प्रकार संस्कृति से मानव की उस अवस्था का बोध होता है जिसमें उसे सुधरा हुआ परिष्कृत इत्यादि कहा जा सकता है परन्तु विद्वद्जन इन शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में परस्पर सहमत नहीं हैं । संस्कृति की परिभाषा करते हुए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह " दिनकर " लिखते हैं -" असल में संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं । + + + अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग है और मरने के बाद हम

अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं । इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे संपूर्ण जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी संरचना एवं विकास में अनेक सदियों का हाथ है । यही नहीं अपितु संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तरों तक करती है[1]

इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति सदियों के संस्कारों से निर्मित होने के साथ सामाजिक मनुष्य की अवस्था विशेष एवं कृतित्व के रूप में समझी जानी चाहिए ।

संस्कृति को जीवन की उत्कृष्ट वस्तु मानते हुए तथा संस्कृति एवं सभ्यता के सम्बन्धों की व्याख्या करनेवाले एक महत्वपूर्ण विचारक ने कहा था कि - " वास्तव में यह विश्वास करना कि मनुष्य की समस्त क्रियाओं के मूल में उपयोगिता का विचार रहता है, मानव मनोविज्ञान को न समझने के बराबर है । मनुष्य एक सचेत और कल्पनाशील प्राणी है इसलिए वह केवल उन्हीं कार्यों को नहीं करता, जिन्हें वह उपयोगी समझता है, उसकी कुछ इच्छाएं एवं आकांक्षाएं ऐसी भी होती हैं, जो उपयोगिता की सीमा से बाहर चली जाती है । वे बौद्धिक जिज्ञासा और सौन्दर्य की भूख से पीड़ित होती है और यही चीजें उसे सांस्कृतिक प्राणी बनाती है । इसलिए संक्षेप में हम कह सकते हैं कि " संस्कृति मनुष्य की उन क्रियाओं व्यापारों और अभिव्यक्तियों का नाम है, जिन्हें वह साध्य के रूप में वरता है, यह जीवन क्रिया के उन क्षणों का नाम है, जिनको स्वयमेव महत्वपूर्ण माना जाता है ।" इसके विपरीत सभ्यता मनुष्य की " कतिपय क्रियाओं से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं का नाम है ।" जिसे हम सभ्य जीवन कहते हैं, उसमें हमारा सम्बन्ध ऐसी वस्तुओं से होता है, जिनको हम उपयोगी मानते हैं । इसलिए संस्कृति का सम्बन्ध मूल्यों से है और सभ्यता का उपयोगिता से ।"[2]

1- संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 5

2- भारतीय संस्कृति : स०ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय', पृ० 3

वात्स्यायन महोदय की परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृति एवं सभ्यता को बिल्कुल पृथक करना उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार साध्य को साधन से अलग करना । एक दृष्टि से देखने पर संस्कृति का जन्म सभ्यता के बाद होना चाहिए अर्थात् एक सीमा तक सभ्यता का विकास करके ही मनुष्य सांस्कृतिक उन्नति कर सकता है । दूसरी दृष्टि से देखने पर सभ्यता को संस्कृति की उपज कहा जा सकता है । जब एक वैज्ञानिक सत्य की खोज करता है, तब उसकी क्रिया सांस्कृतिक है, परन्तु इंजीनियर के रूप में जब वह उस खोज का प्रयोग करके पुल इत्यादि का निर्माण करता है तब वह सभ्यता का निर्माता बन जाता है । अत: स्पष्ट है कि संस्कृति का सम्बन्ध मूल्यों से और सभ्यता का उपयोगिता से होने पर दोनों का परस्पर गहरा संबंध है ।

लब्ध प्रतिष्ठ इतिहासकार डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डे ने अपनी पुस्तक " भारतीय परम्परा के मूल स्वर " में संस्कृति की परिभाषा करते हुए लिखा है - " संस्कृति की पहचान इस बात से नहीं होती कि वह किसी देश काल में प्रवृत्त मानव समुदाय का सम्बन्धी धर्म है और उसके विस्तार से मर्यादित है अपितु संस्कृति से ही समुदाय की पहचान होती है । न संस्कृति समाज का कोई आगन्तुक धर्म है कि उसके बदलते रहने पर भी समाज वही बना रह सके । संस्कृति के द्वारा ही समाज परिभाषित होता है जैसे कि मनुष्य की वास्तविक पहचान इसी बात से होती है कि वह किन आदर्शों को चरितार्थ करने में प्रयत्नशील होता है । "

भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ डा० पाण्डे कहते हैं कि " संस्कृति से भारतीयता परिभाषित है, न कि भारतीयता से संस्कृति । इसीलिए प्राचीन परम्परा में भारतीय धर्म की चर्चा नहीं है चर्चा है धर्म अथवा अभिधर्म की । धर्म आदर्श नियम है न कि रूढ़ि । + + + + धर्म का मूल मानव प्रकृति की दैवी सम्पत्ति है, मात्र उच्चावचन जनाचार नहीं । भारतवासी

जन-समुदायों का प्रचलित शील और रुचि भारतीय संस्कृति नहीं है बल्कि उनकी शिष्ट चेतना के द्वारा स्वीकृत मर्यादाएं और आदर्श को ही उनकी संस्कृति कहना चाहिए ।

इस परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृति अथवा धर्म की भारतीय अवधारणा उसे कालानुसार व्यक्त किन्तु परमार्थतः सनातन साध्य एवं साधन रूप मानती है । इसीलिए भारतीय परम्परा में नैतिक और आध्यात्मिक साधना संस्कृति की प्राणभूत रही है । साध्य-साधन की यह परम्परा ही मूल भारतीय संस्कृति है ।

संस्कृति को मानव मनोवृत्तियों, संस्कारों की कृति मानते हुए आचार्य नरेन्द्र देव लिखते हैं " संस्कृति मानव चित्त की खेती है, इस मानव चित्त का निरन्तर संस्कार होता रहना चाहिए । इस संस्कार में यह शामिल है कि अपनी सांस्कृतिक यात्रा की परतों को उलटते पलटते रहें । "

महीयसी महादेवी वर्मा " संस्कृति को मानव मन की आन्तरिक प्रवृत्तियों का परिस्कार मानती है । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति हैं ।

संस्कृति शब्द की विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि संस्कृति किसी समुदाय, जाति, देश अथवा राष्ट्र की आत्मा होती है, संस्कृति द्वारा जाति, समुदाय, देश अथवा राष्ट्र विशेष के उन समस्त संस्कारों का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने आदर्शों, जीवन मूल्यों का निर्धारण करता है ।

संस्कृति और सभ्यता -

संस्कृति एवं सभ्यता दोनों ही शब्दों का साधारणजन एक ही अर्थ लगाते हैं परन्तु विद्वज्जन इससे सहमत नहीं हैं । प्राचीन भारतीय इतिहास एवं दर्शन के महान् पंडित डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डे अपनी पुस्तक भारतीय परम्परा के मूल स्वर " में संस्कृति एवं सभ्यता की अलग-अलग व्याख्या

करते हुए लिखते हैं कि" यदि भौतिक जीवन की संरचना को, श्रम और विश्राम की बाहरी व्यवस्था को सभ्यता कहा जाय, तो संस्कृति उसके आन्तरिक अर्थानुसंधान का नाम होगा । सभ्यता मूलत: सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से साधनों का संयोजन है जबकि संस्कृति स्वतन्त्रता का अनुसंधान है ।"

संस्कार एवं नैतिकता का सूत्र ही सभ्यता एवं संस्कृति को जोड़ता है, नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना के द्वारा सभ्यता एवं संस्कृति एक दूसरे के उपकारक होते हैं । यदि सभ्यता का विकास इन मूल्यों की उपेक्षा कर दें तो न केवल वह सभ्यता संस्कृति की विपक्षी बन जायेगी अपितु स्वयं उसका अन्त:सूत्र विछिन्न हो जायेगा । सामाजिक सभ्यता के ऊपर आध्यात्मिक संस्कृति की प्रतिष्ठा मिलती है किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष सभ्यता के उत्कर्षापकर्ष पर निर्भर करता है । न इसका यह अर्थ है कि संस्कृति का अन्तरग रूप सभ्यता के बहिरंग रूप पर निर्भर करता है । इसका इतना ही अर्थ है कि संस्कृति की सुरक्षा और विस्तार सभ्यता की अवस्था पर निर्भर करता है ।

टाइलर और हस्कोंविट्स जैसे विद्वान सभ्यता और संस्कृति को पर्यायवाची मानते हैं तो मैलिनाउस्की इत्यादि विभिन्न अर्थों में करते हैं । प्रसिद्ध जर्मन विद्वान स्पेंगलर महोदय ने अपनी " डेक्लाइन आँव दी वेस्ट " नामक पुस्तक में सभ्यता को संस्कृति की चरम और अनिवार्य अवस्था माना है । प्रत्येक संस्कृति पहले विकास की अवस्था से गुजरती है, उस समय उसका रूप बौद्धिक और आध्यात्मिक होता है, जिसको सभ्यता का नाम दिया जा सकता है । प्राचीन यूरोप के इतिहास में पुर्नजागरण काल और भारतीय इतिहास में वैदिक-काल सांस्कृतिक विकास का युग है । संस्कृति के सभ्यतावाले युग में व्यापारिक और यांत्रिक प्रगति अधिक होती है, बौद्धिक कम । प्राचीन यूरोप में रोमन-सभ्यता और भारत में बौद्ध युग के पश्चात का समय इन संस्कृतियों के पतन अर्थात् सभ्यता के युग कहे जा सकते हैं ।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि -" संस्कृति वही है जो हम है, सभ्यता वह है जिसका हम उपयोग करते हैं । सांस्कृतिक साधना हमेशा द्विस्तरीय होती है । एक स्तर अव्यावहारिक परमार्थिक मूल्यों का, दूसरा नैतिक सामाजिक मूल्यों का व्यावहारिक ऐतिहासिक भूमि में संस्कृति एक भौतिक सभ्यता की संरचना में कढ़ी होती है और परस्पर सम्बद्ध संस्कृति और सभ्यता की यह योजना अपनी एक विशिष्ट भाषा की सांकेतिक व्यवस्था के द्वारा अभिव्यक्त होती है । इन सामान्य सूत्रों को लागू करने पर भारतीय संस्कृति के चार लक्षण निर्धारित किए जा सकते हैं । पहला है आध्यात्मिक स्तर पर आध्यात्म विद्या एवं योग का । दूसरा है नैतिक व्यावहारिक स्तर पर उस व्यवस्था का जिसे परम्परागत अर्थ में धर्म कहा जाता है । तीसरा है संकेत व्यवस्था का जिसमें मुख्यतः संस्कृत भाषा, वाङ्मय और प्रतीकात्मक कला को रखा जा सकता है । चौथा लक्षण इनकी अनुबन्धी एक ऐसी भौतिक सभ्यता के रूप में है जिसमें अरण्यवास से नगर संवास तक की अवस्थाएं चार युगों के समान एकत्र पायी जा सकती है । भारतीय संस्कृति के इन चार पक्षों में अपनी - अपनी विशेषताएं हैं ।

भारतीय - संस्कृति की विशेषताएं -

भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं को सारे संसार के लोग बड़े विस्मय से देखते हैं - भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है जिसमें अनेक नदियां आकर विलीन होती रही है । सभी विदेशी लोगों ने हमारी संस्कृति की पावन शक्ति के समक्ष घुटने टेक दिए और बड़ी ही शीघ्रता से वे हिन्दुत्व में विलीन हो गये । भारतीय संस्कृति की विशिष्टताएं निम्नलिखित हैं -

प्राचीनता - इतिहास के पृष्ठों में यह प्रमाणित हो चुका है कि भारतीय संस्कृति की प्राचीनतम संस्कृतियों में एक है । वर्तमान में हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों कालीन उत्खनन से सिन्धु सभ्यता का जो ऐतिहासिक, साक्ष्य प्राप्त हुआ है, वह भारतीय संस्कृति की प्राचीनता को पोषित करती है । अनिवार्यतया ऐतिहासिक

होते हुए भी भारतीय संस्कृति में ऐतिहासिक का बोध अन्य संस्कृतियों की तुलना में प्रमुख नहीं है । यहूदी, ईसाई अथवा आधुनिक पश्चिमी परम्पराओं में वास्तविक सार्वजनिक इतिहास उनके आत्मबोध में केन्द्रीय स्थान रखता है । हमारी सांस्कृतिक चेतनायें सनातनता का आभास मिलता है न कि आधुनिक अर्थ में ऐतिहासिकता का । आज भी भारतवासी उन्हीं आदर्शों को सामने रखकर जीवन में पग रखते हैं, जिनको उनके पूर्वजन मानते थे । उदाहरणार्थ महाकाव्यों को ही लीजिए । दो सहस्त्र वर्ष पूर्व भी राम और कृष्ण को भारतीय अपने आराध्य के रूप में अंगीकार करते थे उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त करते थे और आज भी करते हैं । अपने धार्मिक साहित्य को ही लीजिए वाल्मीकि कालिदास, कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, योगी अरविन्द, रवीन्द्र नाथ टैगोर, गांधी जी, अज्ञेय, नरेश मेहता - इन सभी महापुरुषों ने वेद, उपनिषद, गीता इत्यादि से प्रेरणा प्राप्त की है, इसीलिए भारतीय संस्कृति में चिरस्थायित्व एवं नैरन्तर्य है ।

आज से तीन हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप था आज भी मूलतः वह वैसा ही है । मिश्र, बेबीलोन और यूनान में भी प्राचीन सभ्यताएं विकसित थी किन्तु काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया । केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी मरा नहीं । वह बराबर वर्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है । भारत का अतीत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है और कदाचित आगे भी जीवित रहेगा ।

आध्यात्मिकता -

संस्कृति अथवा धर्म की भारतीय अवधारणा उसे कालानुसार व्यक्त किन्तु परमार्थतः सनातन-साध्य एवं साधन रूप मानती है । इसीलिए भारतीय परम्परा में नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना संस्कृति की प्राण-

भूत रही है । इस साधना का मार्ग स्वधर्म के पालन से प्रारम्भ होकर चरम सत्य के साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति तक विस्तृत है । किसी देश की संस्कृति का वास्तविक रूप क्या है इसको जानने का उपाय है उस देश के महापुरुषों को जानना । अगर हम आधुनिक काल को ही ले तो देखेंगे कि यूरोप के महापुरुषों में मार्क्स, डार्विन, फ्रायड, हिटलर, लेनिन और चर्चिल, जार्ज बर्नार्डशा, वर्ड्सवर्थ, शैली, मिल्टन, कीट्स, जीनपाल सार्त्रे, शेक्सपीयर इत्यादि के नाम हैं । भारत के इसी युग के महापुरुष हैं - परमहंस श्री रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, महायोगी अरविन्द, महर्षि रमण, कविवर रवीन्द्र नाथ टैगोर, महात्मागांधी, महर्षि वाल्मीकि, कालिदास, बंकिमचन्द्र चटर्जी, कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द, अज्ञेय, नरेश मेहता इत्यादि । यह सत्य है कि यूरोप के महापुरुषों की महानता में संदेह नहीं किया जा सकता, परन्तु इस तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि अगर यूरोप के लोकप्रिय महापुरुषों में राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, साहित्यकार और अधिनायक इत्यादि हैं तो भारत के जननेता हैं सन्त, साहित्यकार, समाज सेवी, योगी और महात्मा । यह भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता का अकाट्य प्रमाण है ।

कतिपय आधुनिक मनीषियों ने भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा की व्याख्या की है । कुमार स्वामी ने भारतीय संस्कृति के मूल में सनातन आध्यात्मिक परम्परा का निर्वचन किया । महायोगी अरविन्द ने न केवल आध्यात्मिकता का समर्थन किया, अपितु "आध्यात्मिकता भारतीय मस्तिष्क को समझने की कुंजी है ।" कहा तथा आध्यात्मिकता के अर्थ, विकास अभिव्यक्ति और विकृति की व्यापक रूप से व्याख्या की । स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति को ही प्रामाणिक माना और उसकी व्याख्या नैतिक पद्धति से की । स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति को वेदान्तमूलक सार्वभौम धर्म स्वीकारा ।

यह कहना अनुचित होगा कि अन्य देश के शाश्वत ने

मानव जीवन के उदात्तीकरण में योग प्रदान नहीं किया और सांस्कृतिक विकास की उपेक्षा की है - महानुभावों ने सत्यान्वेषण के मध्य में अनुभूत अनेक जीवन मूल्यों को प्रस्तुत किया है, परन्तु वे देश एवं काल की सीमाओं में आबद्ध रहे, वे भारतीय साधकों की भांति अनन्त में नहीं जा सके। उदाहरणार्थ - मिश्र ने तीन वरदान प्राप्त किये - व्यवस्थित शासन-व्यवस्था लेखन पद्धति तथा धातुओं का प्रयोग, सुमेरियन संस्कृति ने गणित एवं ज्योतिष के ज्ञान की परम्परा प्रदान की, यूनानी संस्कृति में कला (भौतिक सौन्दर्य) और रेखा गणित का विकास हुआ, प्रजातन्त्र प्रणाली मुख्यत: रोम की देन है, चीन में विज्ञानकी उपेक्षा रही मगर कला का विकास इस सीमा तक किया गया कि कलाकारों का देश कहा जाने लगा, परिवार प्रथा चीन की महान देन है। इन विचारकों ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्यानुभूति एवं व्यवहार की कोमलता का विवेचन किया जबकि भारतीय दार्शनिकों में स्थूल के साथ आध्यात्मिक सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति की और शाश्वत के अनुभवों को नेति- नेति कहकर निरूपित किया है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को लेकर अति धार्मिकता का आरोप लगाया है और कहा है कि इससे वैराग्य और निष्क्रियता की भावना को बल मिला है। परन्तु यह आरोप निराधार है। इस सन्दर्भ में छायावाद के जनक श्री जयशंकर प्रसाद का कथन अधिक समीचीन होगा -" भारतीय परम्परा कर्म की पक्षपाती है वैराग्य की नहीं, जब स्वयं भगवान कर्म में लीन है, जब सृष्टि का एक -एक अविराम साधना में निरत है, जब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एक क्षण का विश्राम नहीं लेते तब मनुष्य अकर्मण्य हो यह कैसे संभव। इसीलिए प्रसाद के मनु ने समाधि में लीन जड़ हिमालय को जीवन का आदर्श नहीं माना - माना है गतिशील पवन और सूर्य को। भारतीय महात्माओं की सहानुभूति ,अहिंसा करुणा, उदारता ,दया ममता और प्रेम, सहिष्णुता, क्षमा आदि प्रवृत्तियां

शक्तिशाली की है विवशों की नहीं । भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक होते हुए भी इस लोक के सुख की उपेक्षा नहीं करती । साथ ही साथ भारतीयों द्वारा दी गयी भौतिक प्रगति इसका प्रमाण है । भारतीयों ने सदैव जीवन के सर्वतोमुखी विकास पर बल दिया है । इसीलिए उन्होंने जीवन हेतु जो लक्ष्य निर्धारित किये उसमें धर्म एवं मोक्ष के साथ काम एवं अर्थ भी आ जाते हैं । इसमें प्रधानता धर्म की दी गयी है इसमें सन्देह नहीं परन्तु अर्थ एवं काम को भी यथोचित महत्व दिया गया इसीलिए कहा जा सकता है कि मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति भारतीय संस्कृति का लक्ष्य रही है । भारतीय संस्कृति इसी विशिष्टता के कारण इसका विश्व में मान है । भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता इसको अन्य सांस्कृतिक धाराओं से पृथक कर देती है ।

आध्यात्मिकता के बोध से ही कोई सन्त प्रज्ञावान होता है तब उसके व्यवहार की खुशबू चारों तरफ फैलती है और ऐसे संत, फकीरों महात्माओं के साहचर्य से सारा समाज चाहे वह किसी जाति, धर्म अथवा सम्प्रदाय का हो प्रभावित होता है ऐसा सन्त सम्पूर्ण मानवता का बन जाता है । भारत में इस प्रकार के सन्तों की एक लम्बी परम्परा चली आ रही है । ऐसे सन्तों के समागम से सभी धर्मों, सम्प्रदायों की दीवारें धराशायी हो जाती है और मानवता की भावना प्रबलता के साथ परिलक्षित होती है ।

भारतीय संस्कृति में धार्मिकता का स्वर

" धर्म " शब्द को अंग्रेज़ी के " रिलीजन " शब्द की व्यापक परिधि में जकड़ा नहीं जा सकता है । धर्म शब्द " धृ " धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है वह जो किसी वस्तु को धारण करे । मनुस्मृति में धर्म के चार स्रोत बताये गये हैं - वेद स्मृति, सदाचार और वह जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे । मीमांसा दर्शन में वांछनीय कर्म को और वैशेषिक दर्शन में पारलौकिक कल्याण के मार्ग को " धर्म " कहा गया है । भगवान बुद्ध के अनुयायी चार आर्य सत्यों को और अष्टांगिक मार्ग को धम्म मानते हैं । महाभारत में कहा गया है - " धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम् ।" अर्थात् धर्म का तत्व बुद्धि में निगूढ़ है - अपने भीतर से ही उसे पहचाना जा सकता है । शंकराचार्य ने " गीता - भाष्य " के प्रारम्भ में " वैदिक धर्म " को द्विविध बताया है - प्रवृत्ति लक्षण धर्म और निवृत्ति लक्षण धर्म - " द्विविधा हिवेदोक्तो धर्मः प्रवृत्ति लक्षणो निवृत्ति लक्षणश्च ।" वेद नित्य है और उनके द्वारा व्यक्त ये दोनों धर्म के प्रकार भेद अधिकार भेद से भिन्न होते हुए भी सनातन ठहरते हैं । धर्म को मारा नहीं जा सकता वह आत्मा की तरह अमर है । -" नैनं छिदन्तिशस्त्राणि नैनं दहति पावकः । "

सार्थक जीवनविधा के आदर्श नियामक के रूप में संस्कृति को लेने पर इसका समानान्तर प्राचीन भारतीय शब्द -" धर्म " सनातन धर्म अथवा आर्य धर्म है । धर्म सनातन और सार्वभौम होते हुए भी देश, काल, जाति, पात्र एवं अवस्था के अनुसार व्यवस्थित होता है । जिस धर्म से भारतीय संस्कृति पारिभाषित होती है, वह " विवेक का एक विशिष्ट इतिहास है न कि जाति - पांति, छुआछूत या चूल्हे- चौके की मृत या मुमूर्ष रूढ़ियां । धर्म को अतीत सामाजिक जीवन का कंकाल न समझना चाहिए, वह उसके युग-युगीन जन्मान्तर का प्राण हेतु रहा है जो कि एक सनातन ज्ञान से अभिन्न है । सामान्यतया धर्म से नैतिक मूल्य और उनकी चेतना का बोध होता है । इसका

सम्बन्ध मानव-जीवन और मानव व्यवहार के लिए आवश्यक नैतिक मूल्यों से है ।

भारत धर्म प्राण देश है। यहाँ कि नदियों, पहाड़ों, वृक्षों, पशु-पशुओं आदि में धर्म पानी में मिश्री की तरह घुल-मिल गया है । उस देश के किसी भी अंश से चाहे वह राजनीति ही क्यों न हो हटाया नहीं जा सकता । केले के स्तम्भ की पर्तोंकी तरह देश की प्रत्येक पर्त में व्यापक अर्थ में धर्म दिखाई देगा । देश की संस्कृति का आन्तरिक निर्माण - काव्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला धर्म से बनता है । देश की सांस्कृतिक पहचान धार्मिक काव्य ग्रंथ - वेद , उपनिषद्, रामायण , महाभारत, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी, कोणार्क, खजुराहो, अजन्ता ताज महल, बैजू, तानसेन, हरिदास, कर्नाटक संगीत, भरतनाट्यम, ओडिसी, कुचिपुड़ी, कथकली, कत्थक आदि को हटा देने पर देश की पहचान क्या बनेगी अर्थात् धर्म भारतीय संस्कृति की आत्मा है ? कहना न होगा कि समस्त क्लासिकल साहित्य और कलाएं धर्म से अनुप्राणित है । धर्म अनुभूति है, संवेदना है। धर्मानुभूति का वैसा ही महत्व है जैसा काव्यानुभूति का । सांस्कृतिक समृद्धि के लिए दोनों की सख्त ज़रूरत है ।

संसार के धर्मों में एकता कैसे लायी जाय इसका समाधान आज तक नहीं हो सका । प्राचीनकाल में अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सर्वोत्तम हो, संसार भर के लोगों को उसी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिए । 893 ई० में शिकागो (अमेरिका) में जो विश्व धर्म सम्मेलन हुआ था । उसका भी आशय यही था कि सर्वोत्तम धर्म कौन सा है, इसका निर्णय कर लिया जाय किन्तु विवेकानन्द के विचारों से सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे । उन्होंने कहा कि " यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि धार्मिक एकता का मार्ग एक धर्म की विजय और बाकी धर्मों का विनाश है तो मैं उससे निवेदन करूंगा कि बन्धु ? तुम्हारी आशा पूरी नहीं होगी । क्या मैं यह सोचता हूं कि सभी ईसाई

हिन्दू हो जाय, क्या मैं चाहता हूं कि सभी हिन्दू और बौद्ध ईसाई हो जाय- ईश्वर न करे कि ऐसा हो । ईसाई को हिन्दू और हिन्दू को ईसाई नहीं होना है, किन्तु प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह अन्य धर्मों का सार अपने भीतर पचाले और अपने वैशिष्ट्य की पूर्ण रूप से रक्षा करते हुए अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो । अन्यत्र स्वामी जी ने कहा कि आत्मा की भाषा एक है किन्तु जातियों की भाषायें अनेक होती है, धर्म आत्मा की वाणी है । वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है । ' चिरकाल से वेदों को धर्म ज्ञान के लिए मुख्य प्रमाण माना जाता रहा है । शंकराचार्य ने गीता भाष्य के आरंभ में वैदिक धर्म को द्विविध बताया है - प्रवृत्ति लक्षण धर्म और निवृत्ति लक्षण धर्म -' द्विविधा हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्ति लक्षणो निवृत्ति लक्षणश्च । ' वेद नित्य है और उनके द्वारा व्यक्त ये दोनों धर्म के प्रकार-भेद , अधिकार भेद से भिन्न होते हुए भी सनातन ठहरते हैं ।

हमारे यहाँ धर्म-दर्शन को एक सीमा तक एकीकृत कर दिया गया है । धर्म-दर्शन का चरम प्रयोजन मुक्ति है । धर्म मनुष्य को भव-बन्धन से मुक्त करता है और काव्य व्यक्ति संसर्गों से । भव-बन्धन भी व्यक्ति संसर्ग है यह मेरा और यह तेरा है । उपनिषदों का आत्मवाद कि जो कुछ है, एक है, काव्य में भी परिलक्षित होता है । यह मुक्ति पारलौकिक नहीं है, इस लोक से मुक्त होकर परलोक की कामना नहीं है । उपनिषदों की जीवनमुक्ति का लक्ष्य परलोक नहीं इहलोक है । इसके द्वारा आकांक्षा का विरह नहीं विस्तार होता है वासनाओं का दमन नहीं, संस्कार परिस्कार होता है ।

राम और कृष्ण हिन्दू भावयोग है । भारतीय संस्कृति में वे उसी तरह व्याप्त है जैसे पीपल के पत्ते में उसकी नसें । प्रेम, करुणा एवं शांति की त्रिवेणी दोनों में मिलेगी । भारतीय जनमानस में राम कृष्ण रगों में दौड़ते हुए खून की तरह व्याप्त है । उन्हें छोड़कर धर्म की निष्कृति नहीं है ।

महात्मा बुद्ध का व्यक्तित्व एवं कर्तव्य अपनी सम्पूर्णता में एक महाकाव्य है । प्रेम, करुणा एवं शांति का इतना गहरा सामंजस्य किसी अन्य महापुरुष में नहीं मिलेगा । अपने धर्म के प्रचारार्थ उन्होंने प्रेम को ही साधन बनाया, तलवार को नहीं । ईसा एवं मुहम्मद में भी ये गुण मूलत: मौजूद रहे हैं । इन गुणों के अभाव में किसी का चरित्र अविस्मरणीय नहीं बन सकता ।

आज धर्म को राजनीति से अलग करने की पुरजोर कोशिश की जा रही है, इससे लगता है कि वह समय आ गया है जब राजनीतिज्ञ धर्म को केंचुल की तरह उतारकर राजनीति को और भी जहरीला बना देना चाहता है । धर्म बिन राजनीति यानी आत्मा बिन शरीर का क्या प्रयोजन । तिरंगे से धर्मचक्र को हटा दीजिये तो वह तीन रंगों का थका हुआ नाम हो जायेगा क्योंकि धर्म तो विशालतर अर्थ रखता है, वह संपूर्ण सृष्टि का संचालक और संहारक है । धर्म सनातन एवं सार्वभौम होते हुए भी देश, काल, जाति, पात्र एवं अवस्था के अनुसार व्यवस्थित होता है , इसीलिए कहा गया है - " धर्मो रक्षति रक्षित: ।" यदि धर्म को भाव के स्तर पर न ग्रहण कर वाह्याडम्बर के स्तर पर ग्रहण किया जायेगा तो अपनी ही आन्तरिकता विकृत होगी । रविबाबू ने कबीर के विषय में लिखा है " कबीर की जीवनी और रचनाओं में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उन्होंने समस्त वाह्य आवर्जना का अतिक्रमण करते हुए उनके अतिक्रमण की श्रेष्ठ सामग्री को ही सत्य साधना समझकर उपलब्ध किया था । इसीलिए कबीर के अनुयायियों को विशेष रूप से भारत पंथी कहा गया है । भारतपंथी विचित्र नाम है । कबीर के अनुयायियों में हिन्दू मुसलमान दोनों थे । संभवत: इसीलिए उनके मत को भारतपंथी कहा गया । भारत पंथी वही हो सकता है जो भारत की आंतरिकता, भाव-साधना का पदाधर हो । काव्यानुभूति एवं धर्मानुभूति का विचित्र तादात्म्य रवीन्द्र नाथ ठाकुर में मिलता है । उन्होंने अपनी जीवनस्मृति में लिखा है - " एक रोज अपने पढ़ने के कमरे में बैठकर गायत्री का जाप करते- करते सहसा मेरी

आँखें भर आयी और आँसू टपकने लगे । आँसू क्यों टपक रहे हैं, यह मैं तनिक भी न समझ सका । इसलिए कठिन परीक्षक के हाथ में पड़ने पर मैं मूर्ख के समान ऐसा - वैसा एक कारण बतला देता जिसका गायत्री मंत्र से कोई सम्बन्ध नहीं सच तो यह है कि अन्तर के अंत: पुर में जो व्यापार चलता है, सब समय उसकी खबर बुद्धि के क्षेत्र में नहीं पहुंचती । इस अन्त: पुर में ही काव्यानुभूति एवं धर्मानुभूति की अभिव्यक्ति होती है ।

हमारे यहाँ कबीर, गोस्वामी तुलसीदास, प्रसाद, निराला, अज्ञेय, नरेश मेहता में तथा देववाणी के आदि कवि वाल्मीकि, महाकवि कालिदास इत्यादि कृतिकारों में भारतीय, धर्म, दर्शन, शिल्प और साधना में जो कुछ उदात्त है, जो कुछ दृप्त है, जो कुछ महनीय है और जो कुछ ललित एवं मोहन है उनका प्रयत्नपूर्वक सजाया संवारा हुआ काव्य रूप मिलता है। क्योंकि काव्य एवं धर्म दोनों का सम्बन्ध मनुष्य के भाव एवं अंत:करण से है, इसलिए दोनों ही नित्य है । धर्मग्रंथों में काव्यार्थ और काव्यग्रंथों में धर्मार्थ भरा पड़ा है । इनके सम्बन्धों की पहचान उनमें प्रयुक्त होनेवाले बिम्बों, प्रतीकों अलंकारों मिथकों से हो जाती है । किसी देश की अस्मिता की परख इन्हीं से होती है । धर्म एवं दर्शन से विरहित काव्य " सेक्युलर " हो जरुरी नहीं है । पर भारतीय - परम्परा में धर्म की जो सारता है, जो विश्वसनीयता है, उसे लेकर ही बड़ा काव्य लिखा जा सकता है जो पूर्ण धर्म निरपेक्ष होगा ।

हिन्दी के यशस्वी कृतिकार स्व० अज्ञेय जी के शब्दों में मैं अपने को हिन्दू कहना आवश्यक नहीं मानता क्योंकि यह मध्यकाल में दूसरों के अवज्ञा के भाव से दिया गया । लेकिन जिसे भारतीय धर्म कहा गया है, उसकी परिधि में रह सका हूँ तो अपने को धन्य मानता हूँ । जिस धर्म की परिधि में रहकर धन्यता की अनुभूति होती है, वह क्या है ? इस सिलसिले में उनका कहना है कि किसी मतवादी रूढ़ि से अलग धर्म की उद्भावना को मैं संसार को भारतीय चिंतन की बहुत बड़ी देन मानता हूँ । यह इसके बावजूद

कि आज मेरे समकालीन इसकी उपेक्षा करते हैं और धर्म ने मनुष्य के मानस को उतनी स्वाधीनता का वातावरण नहीं दिया । किसी ने स्वस्थ जीवन की इतनी गहरी नींव नहीं डाली जितनी भारतीय धर्म ने ।

सहिष्णुता एवं समन्वयात्मकता के स्वर

भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता जो मुख्यत: उसकी धार्मिकता का परिणाम है , सहिष्णुता एवं समन्वयशीलता है । भारतीयों को धर्म ने यह सिखाया है कि वाह्य संसार की अनेकता के परे एक परम सत्य है । यही परमसत्य भौतिक संसार की अनेकता के मूल में है । अर्थात् वाह्य अनेकता भ्रामक है सत्य नहीं । इस सत्य को भारतवासियों ने जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू किया है । इसका परिणाम यह हुआ कि उनका दृष्टिकोण व्यापक एवं सहिष्णु हो गया । धर्म के क्षेत्र में यह उदारता विशेष रूप से दिखाई देती है ।

सम्राट अशोक के सातवें एवं बारहवें शिलालेख में हमारी धार्मिक उदारता का पुष्ट प्रमाण है - स्वयं सम्राट के शब्दों में " सब मतों के लोग सब स्थानों पर रह सकें क्योंकि वे आत्मसंयम एवं हृदय की पवित्रता चाहते हैं । +

\+ + + + + +

मनुष्य को अपने धर्म का आदर और दूसरे धर्म की अकारण निन्दा नहीं करनी चाहिए । एक न एक कारण से अन्य धर्मों की रक्षा करनी चाहिए ऐसा करके मनुष्य अपने धर्म की वृद्धि करता है तथा दूसरे धर्म का उपकार करता है । मां भारती के महान सपूत स्वामी विवेकानन्द ने 11 सि० 1893 ई० में शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन में अपनी ओजस्विनी वाणी से भारतीय संस्कृति के मूल स्वरों को स्पष्ट करते हुए कहा था कि " मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी

होने में गर्व का अनुभव करता हूं जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम संस्कृति दोनों की ही शिक्षा दी है । हमलोग सब धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते है । मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़न और शरणार्थियों को आश्रय दिया है । मुझे आपको यह बतलाते हुए गर्व होता है कि हमने अपने वक्ष में यहूदियों के विशुद्धतम् अवशिष्ट अंश को स्थान दिया था, जिन्होंने दक्षिण भारत आकर उसी वर्ष शरण ली थी, जब उनका मन्दिर रोमन- जाति के अत्याचार ने धूल धूसरित कर दिया था । ऐसे धर्म का अनुयायी होने में मैं गर्व का अनुभव करता हूं जिसने महान जरथुस्ट जाति के अवशिष्ट अंश को शरण दी और जिसका पालन वह अब तक कर रहा है । भाइयों मैं आप लोगों को एक स्रोत कुछ पंक्तियां सुनाता हूं : -

' रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषाम् ।
नृणामिको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।। '

अर्थात् जैसे विभिन्न नदियां भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती है उसी प्रकार प्रभो । भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े- मेढ़े रास्ते अथवा सीधे रास्ते से जानेवाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं ।'

अन्वय शब्द का शाब्दिक अर्थ है एक दूसरे से सम्बद्ध होना । समन्वय का अर्थ अच्छी तरह से सम्बद्ध होना है । समन्वय की स्थिति में जो पदार्थ जुड़ते हैं वे अलग भी पहचाने जा सकते हैं और परस्पर सम्बद्ध रूप में भी जिस रूप में वे एक दूसरे के सापेक्ष है, वहां वे एकता के सूत्र बनते हैं । पूरी तौर पर समन्वय समरसता से आता है एक दूसरे के चाह से आता है, समन्वय अधूरा रहता हैं या एक विशेष उद्देश्य से रहता है, वहां विलगाव हो जाता है । यहां कितनी जातियां मिली उनकी अलग से पहचान नहीं रह गयी, गंगा

की तरह इसमें जितनी नदियाँ मिली सभी गंगा हो गयी ।

हमारी संस्कृति की अन्य संस्कृतियों से पृथकत्व यह है कि यह परायापन नहीं देखती न मनुष्य की किसी अन्य प्रजाति में न जीवन-जगत में । भारतीय संस्कृति की मूल शक्ति उसकी सर्वमयता है । उसके देवी-देवता सब के हैं, वे सर्वमय हैं । उपनिषदों में कहा गया है कि जो सब को देखता है, वही देखता है, जो सब का नहीं देख पाता, वह जीवन को नहीं समझ सकता, क्योंकि तब वह मृत्यु से आतंकित रहता है, व्यक्ति के रूप में वह असुरक्षित रहता है । सब के साथ जुड़कर वह अमर हो जाता है । वह अपनी सन्तान में जीवन की संभावना देखता है, वह स्वयं को अपने पूर्वजों की अधूरी आकांक्षाओं की पूर्ति के रूप में देखता है ।

कहा जा सकता है यह तो आप हिन्दू मन की बात कर रहे हैं, भारतीय मन की बात नहीं । भारतीय मन हिन्दूमन से अलग है न ? भारतीय हिन्दू मन से अलग नहीं, मुस्लिम मन से अलग नहीं, ईसाई मन से अलग नहीं, अलग होता तो उपनिषदों का अनुवाद मुसलमानों ने क्यों फारसी में किया होता, अलग होता तो यूनान के चिन्तकों को वाराहमिहिर ने ऋषि क्यों कहा होता, अलग होता तो पश्चिमी चिन्तन को भारत ने गंभीरता से क्यों लिया होता । भारतीय मन ही है जो हिन्दू को जायसी के पद्मावत का रसास्वादन कराता है । (यद्यपि इसमें प्रतिपादन इस्लामी मत का है) मुसलमान को कृष्ण के सौन्दर्य की ओर आकर्षित करता है । विरुद्धों का सामंजस्य हिन्दुस्तान की संस्कृति का आधारभूत तत्व है । यों अन्त विरोधों का होना और फिर उनका समन्वय एक प्रकार से संस्कृति मात्र का लक्षण है , उसकी जीवंतता का प्रमाण है , पर उससे जुड़ी तथा उसके सहारे विकसित संस्कृति में यह प्राणधारक तत्व रहा है, जिसके होने से ही कवि के सरल से लगते तराने में यह गहरी अनुभूति उसे हुई थी -" कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी " यह हिन्दू मानसिकता की वह शक्ति है जो अनेक अंतर्विरोधों को अपने में समाये हुए हैं ।

हमारे देश की महान विभूतियों कबीर, सूर, तुलसी, जयशंकर प्रसाद, निराला आदि ने विभिन्न विचार पद्धतियों, साधनाओं, विरोधी संस्कृतियों और विभिन्न जातियों में सामंजस्य स्थापित करके जीवन, दर्शन और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वय कर एक महान आदर्श उपस्थित किया ।

संत प्रवर कबीर कहते हैं - एक राम देखा सबहिन में, कहै कबीर मनमाना । कबीर ने विष्णु, कृष्ण, गोविन्द, राम यही नहीं अनेक इस्लामी नामों - अल्लाह, खुदा, पैगम्बर आदि नामों में एक ही परमब्रह्म मानते थे, ऐसा करके उन्होंने साम्प्रदायिक लक्ष्मण रेखाओं को मिटाया है ।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कबीर एवं गांधी की तुलना करते हुए लिखते हैं - " भारत अग्रजन्माओं का देश है, जो अपने चरित्र से संसार को शिक्षा देते रहे हैं । भारत का वह अग्रजन्मत्व लगभग पांच शताब्दी पूर्व कबीर के रूप में प्रकट हुआ है । मानवता का जो महत्व पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर कहलाया वही बीसवीं सदी में " गांधी " है । महान आत्मा वही है जिसकी वाणी जन समस्या की धूल धूसरित धरा पर लोटती हुई जन अभ्यर्थना में लीन हो जाती है । सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विषमताओं से संतप्त मानव हृदय की आंखों की आंसू को इन कवियों की वाणी ने पोछने का भरपूर प्रयास किया था । तुलसी के लोकनायकत्व पर विचार करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं - " लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके । क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियां, साधनाएं, जातियां आचार निष्ठा और विचार पद्धतियां प्रचलित हैं । बुद्धदेव समन्वयकारी थे । गीता में समन्वय की चेष्टा है । तुलसीदास भी समन्वयकारी थे । --- उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है । लोक और शास्त्र का समन्वय गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, रामचरितमानस आद्यन्त समन्वय का महाकाव्य है ।

" भूपति भणिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सबकरि हित होई ।। "

इसी प्रकार प्रसाद जी की " कामायनी " एक विराट सामंजस्य की सनातन गाथा है । उसमें हृदय और मस्तिष्क का सामंजस्य ,वासना और संयम का सामंजस्य सुख और दु:ख का सामंजस्य, परिवर्तन और स्थिरता का सामंजस्य ,नर-नारी के सम्बन्धों का सामंजस्य और सब से अधिक भेद और अभेद ,द्वैत और इकाई का सामंजस्य है ।

अत: हम कह सकते हैं कि भारत में बहुत से देवता रहे, बहु देववाद रहा, पर धर्म के नाम पर खून नहीं बहाया गया । यहां सभी धर्म एक दूसरे से लिपटकर पनपते रहे, यहां तक कि इस्लाम धर्म भी हमारे मध्यकालीन नवजागरण और भक्ति आन्दोलन की शक्ति से भारतीय धर्म में समाता गया । यह धारणा आज प्राय: सर्वस्वीकृत है कि भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक या सामासिक है ।

भारतीय संस्कृति और सर्जनात्मकता

भारत की सांस्कृतिक अस्मिता की प्रतीक देववाणी संस्कृत है जिसमें हमारा धार्मिक साहित्य रचा गया जिसमें हमारे वेद, धर्मशास्त्र पुराण और महाकाव्य लिखे गये, इसी में हमारा दर्शन और कानून लिखा गया, जिनको समस्त भारत में प्रामाणिक माना जाता है ।

हर भाषा को उसके बोलनेवाले अपनी संस्कृति की धरोहर के रूप में सौंपते हैं । धरोहर का अर्थ है, भाषा उसे संभालेगी, आगे उत्तराधिकारियों को देगी, वे फिर अपनी समझ जोड़कर संस्कृति की धरोहर आनेवाली पीढ़ी के लिए भाषा को सौंपेंगे । भारतीय भाषाओं की बहुत सी सांस्कृतिक धरोहर समान है क्योंकि मूल अवधारणाएं जिस भाषा में सब से पहले अवतीर्ण हुई वह संस्कृत थी । वह संस्कृत प्राचीन तमिल प्राचीन मुण्डा प्राचीन किरात

भाषाओं के घनिष्ठ संपर्क में आने के बाद उन सब के तत्वों का संश्लेषण अपने में कर चुकी थी । उसमें जहां ऐसा लचीलापन था, वहीं उसमें साहित्य का ऐसा ठोस आधार था कि कभी पुरानी नहीं हुई । उसमें अमरत्व अपने आप आ गया । हरेक भारतीय भाषा जाने अनजाने उसके अजाय-स्रोत से अभिव्यक्ति के नये आयाम पाती रही है ।

हिन्दी भारतीय भाषाओं में अद्वितीयता का दावा नहीं करती, पर भूगोल एवं इतिहास दोनों ने उसे केन्द्र में रखा । हिन्दी एक भाषा नहीं कई भाषाओं का समूह है जिनमें समृद्ध साहित्य है लिखित से कई गुना अधिक वाचिक साहित्यहै, पुश्त दर पुश्त के सूक्ष्म जीवन अनुभवों से गुजर करके धनी हुई पैनी लोकोक्तियां हैं । ताजा से ताजा बिम्ब-विधान है और संघर्षों से पायी हुई प्रखर दीप्ति है, साथ ही भक्ति धारा के उमड़ाव में बहायी गयी संस्कृति की सहज शुचिता और ऋजुता है । हिन्दी में सब का रुझान है परिस्कार का भी, नागरता का भी और ठेठ गंवई देशीपन का भी । राजा का भी रंक का भी । परन्तु उसमें प्रतिष्ठा सामान्य की है - उसमें" सूधे मन सूधे वचन सूधी करतूति ।" पर बड़ी आस्था है, उसमें -

" रहिमन रहिमन धागा प्रेम का तोड़ो मत चटकाय ।
टूटे पुनि ना जुड़े जुड़े गांठि परिजाय ।। "

का स्नेह है, पर गांठ पड़ने की चिन्ता किसे है - सिवाय रचनाकार के । रचनाकार ही निरन्तर धर्म निरपेक्षता की गति ध्वनि पर डटा रहनेवाला प्राणी है और जिद्दी प्राणी है जो रहीम की तरह मनसबदारी खोने पर भी डटा रहता है और गंग कवि की तरह हाथी के पैर से कुचलवा दिए जाने पर भी उफ तक नहीं करता । रसखान बादशाह वंश की ठसक छोड़ सकते हैं और घनानन्द दिल्ली दरबार छोड़कर वृन्दावन में रमने चले जाते हैं । भारतेन्दु का देश भक्ति भाव सब धन लुटा सकता है और हर कीमत पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी, सत्यानाशी नीतियों का विरोध करता है । भारतेन्दु के बाद

का रचनाकार मैथिली शरण गुप्त की भारत- भारती " में माँ भारती की स्वतन्त्रता की पुकार है । पूरी की पूरी प्रसाद निराला की काव्यात्मकता में भारतीय सांस्कृतिक चेतना का उज्ज्वल रंग दमकता है । अमीर खुसरो तो फारसीदा थे - पर उन्हें फारसी पर गर्व नहीं है गर्व है हिन्दी पर, हिन्दुस्तान पर । अमीर खुसरो की इसी धर्म निरपेक्षता में हिन्दी- साहित्य पनपा है और इसी सांस्कृतिक साहित्यिक मनो भूमि मे तमाम गतिशील तत्वों के साथ जायसी, कबीर। सूर, तुलसी, गंग, रहीम, रसखान, बिहारी, धनानन्द प्रसाद , निराला, भारतेन्दु, अज्ञेय, नरेश मेहता की साहित्यिक सांस्कृतिक सवेदना का परिस्कार किया है ।

" हिन्दी साहित्य की धर्म निरपेक्षता को जो बुद्धिजीवी अपने तर्कों की प्रगतिशीलता पर दम्भ करते हुए धर्मान्धता की ओर ढकेलना चाहते हैं, वे लगभग तीन दशकों से तुलसीदास और मैथिली शरण गुप्त पर कटारी चला रहे हैं, उन्हें ये कवि निरन्तर हिन्दूवादी घेरे मे कवि दिखाई देते रहे हैं । पर इन्हें यह भी देखना चाहिए कि गोस्वामी तुलसीदास का पूरा रचना कर्म सामन्त विरोधी मूल्यों का अक्षय भण्डार है ।" परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई " ही रचना कर्म का उद्देश्य है । रहीम के अभिन्न तुलसीदास पण्डितवाद - पुरोहितवाद का खण्डन करते हैं । उनका कलयुग वर्णन यथार्थवादियों को आँखें खोल देनेवाला है । ऐसे ही मैथिली शरण गुप्त में पूरे देश की पराधीनता का दर्द उभरता है । गुप्त जी उसी अर्थ में हिन्दू कवि हैं जिस अर्थ में रवीन्द्र नाथ टैगोर हिन्दू कवि हैं । इन रचनाकारों का हिन्दू एक व्यापक अर्थ में रचनाकार का मानवतावाद धारण किए हैं । यह भी अकारण नहीं है कि आधुनिक कविता के सर्वाधिक विद्रोही कवि निराला के सब से प्रिय कवि हैं - तुलसीदास । जीवन पर्यन्त निराला ने तुलसी की काव्य चुनौती झेला और उसे आगे बढ़ाया । वेदान्त आर तंत्र, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द का चिन्तन उनमें काव्य रसायन बना है । निराला ही क्यों पूरा छायावाद सांस्कृतिक चेतना को प्रवाहमान है ।

ही रहे हैं । वाल्मीकि और भवभूति ने ही हमारी परम्परा को अर्थ, प्रतीक और मिथक दिए तथा इनमें इतना खुलापन भर दिया कि हमारी चिन्तन परम्परा की संरचनात्मक अवभूति कभी विकृति नहीं हुई ।

" साहित्य अपने समय को पहचानता है, जांचता है तोलता है, इसमें कितना रहेगा ,कितना नहीं रहेगा । इसमें कितना वर्तमान है, कितना केवल समसामयिक है, इसी लिए उसे लोग कालजयी कहते हैं । वस्तुत: साहित्य काल पर विजय नहीं प्राप्त करता । वह काल को नया आयाम देता है, मानवीय अनुभव का । साहित्य के बीते दिन, बीतनेवाले दिन नहीं होते, कवि कहता है - अब वे वासर बीत गये, उसी क्षण वे नये वासर के रूप में लौट आते हैं । सूरदास जब कहते हैं --" एहि बेरिया बन तै ब्रज आवते " - इसी बेला वन से ब्रज में ग्वालों की बस्ती में हमारे गोपाल प्रवेश करते थे, तब गोपाल कवि के वर्तमान में कवि के सहृदय पाठक के वर्तमान में आ जाते हैं । साहित्य में भविष्यत् भी संभावना नहीं निश्चय होता है । महाकवि कालिदास के" अभिज्ञान शाकुन्तलम् " में जब दुर्वासा के शब्दों में कवि ने कहा -

" विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामिहागतम् ।
स्मरिष्यन्ति त्वां प्रतिबोधितोपिसन्
कथां प्रमत: प्रथमंकृतामिव ।। "

साहित्य वस्तुत: कालों का संयोजन है । साहित्य का यह संयोजन व्यापारों का संयोजन है । साहित्य निराला के साथ आमंत्रण देता है -

कहा जो न कहो
नित्य नूतन प्राण अपने गान रच रच दो ।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि साहित्य काल की निचोड़ शक्ति है ।

हमारे देश में भाषा सिर्फ भाषा नहीं वाणी मानी जाती है अपितु वाणी ही क्यों देववाणी । भारतीय भाषाओं अपनी अपने देश की सांस्कृतिक विशिष्टता को देखते हुए हर कीमत पर इनकी गरिमा, महत्व और सम्मान की रक्षा करना चाहेंगे । ये भाषायें मानव के उद्गम से आज तक के महा चेतना प्रवाह की सूचक हैं । इनमें संवेदनाओं के विकास का इतिहास सुरक्षित है ।

उपसंहार -

भारतीय संस्कृति लोक-व्यवस्था एवं जन-समुदाचार के परिवर्तनों का इतिहास मात्र न होकर मूलत: सनातन योग अथवा साधना की प्रतिविष्ट ऐतिहासिक परम्परा है । ज्ञान के क्षेत्र में इसका साध्य पराविधा, कर्म के क्षेत्र में धर्म एवं अनुभूति के क्षेत्र में रस कहा जा सकता है और इस त्रिधाकरण के अनुसार एक ही मौलिक योग ज्ञान योग, कर्मयोग एवं भक्तियोग के रूप में विभक्त हो जाता है । व्यावहारिक स्तर पर यही त्रिविध साधना शत्रानुसंधान नीति एवं कला का रूप धारण करती है । भारतीय संस्कृति सनातन विधा की ऐतिहासिक परम्परा है । इस साधनात्मक संस्कृति को आत्म संस्कृति अथवा परावृत्ति के मार्ग कहा जा सकता है । मूलत: वैदिक-युग में यह संस्कृति एक सहज अखण्डता से लक्षित थी । परवर्ती युग में सभ्यता के विकास के साथ साधनात्मक मूल संस्कृति सभ्यता के विश्व के पृथक सी एक धारा बन गयी , यद्यपि वाङ्मय, कला आदि में उसका सांकेतिक निरूपण सभ्यता के विश्व को निरंतर अलंकृत करता रहा ।

हम भारतवासी अपने देश पर गर्व की अनुभूति करते हैं परन्तु इस कारण नहीं कि वे बली एवं संपन्न है प्रत्युत इसलिए कि हमारी संस्कृति महान थी और आज भी है । यह अध्यात्मकी कर्म भूमि है, अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूति है । हमारा भारत मानवता की मातृभूमि है, देवजन भी देह धरकर प्रकट होने हेतु लालायित रहते हैं -

" गायन्तिदेवा: किलगीतकानि धन्यास्तुते भारतभूमिभागे ।

स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते, भवन्तिभूय: पुरुषा: सुरत्वात् ।। "

(विष्णु पुराण 2 । 3। 24)

देवगण भी गान करते हैं कि भारतभूमि में जन्म लेनेवाले लोग धन्य है । स्वर्ग और अपवर्ग कल्प इस देश में देवता भी देवत्व को छोड़कर मानव योनि में जन्म लेना चाहते हैं ।

प्राचीनकाल में भगवान राम ने भी भारत को स्वर्ग से श्रेयष्कर स्वीकारते हुए कहा था -

" नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्ष्मण: ।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।। "

भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य विचारक मिस्टर सी० एम० जोड लिखते हैं कि - " मानव जाति को भारतवासियों ने जो सब से बड़ी चीज वरदान के रूप में दी है वह यह है कि भारतवासी हमेशा से अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारों के मध्य समन्वय करने को तैयार रहे हैं और सभी प्रकार की विविधताओं के मध्य एकता करने की उनकी लियाकत और ताकत लाजवाब रही है । " मिस्टर जोड ने भारतीय संस्कृति की इस अपूर्व क्षमता की जो प्रशंसा की है वह इसलिए कि संसार के सामने आज जो सब से बड़ा सवाल खड़ा है वह यह है कि दुनिया के अनेक जातियों, वादों एवं विचारों तथा संस्कृतियों के बीच समन्वय के स्थापित करके हम विश्व संस्कृति में तादात्म्य कैसे करे । अनेक संस्कृतियों, जातियों एवं विचारधाराओं के मिलन से भारतीय संस्कृति में जो एक प्रकार की विश्वजनीनता उत्पन्न हुई , वह संसार के लिए सचमुच वरदान है और पिछले दो सौ वर्षों से सारा संसार उनका प्रशंसक रहा है । 17वीं सदी में अपनी अपूर्व भारत भक्ति से सारे यूरोप को चौंका देनेवाले मैक्समूलर ने लिखा है कि --

" अगर मैं अपने आप से पूछूं कि केवल यूनानी रोमानी और यहूदी भावनाओं एवं विचारों पर चलनेवाले हम यूरोपीय लोगों की आन्तरिक जीवन को अधिक समृद्धि अधिक पूर्ण और अधिक विश्वजनीन संक्षेप में अधिक मानवीय बनाने का नुस्खा हमे किस जाति के साहित्य में मिलेगा तो बिना किसी हिचकिचाहट के मेरी उंगली हिन्दुस्तान की ओर उठ जायेगी । "

एक अन्य विचारक के शब्दों में ---

" अगर इस धरती पर कोई ऐसी जगह है जहाँ सभ्यता के आरम्भिक दिनों से ही मानव के सारे उदात्त सपने आश्रय एवं पनाह पाते रहे हैं, तो वह जगह हिन्दुस्तान है । "

यह विश्वजनीनता, सहिष्णुता, सर्वग्राह्यता आध्यात्मिकता, विभिन्न जातियों को एक महाजाति के संस्कारित साँचे में ढालने का यह अद्भुत प्रयास और अनेक वादों, विचारों और धर्मों के बीच एकता लाने का यह निराला ढंग सभी युगों में भारतीय समाज की विशेषता रहा है ।

0000000

द्वितीय अध्याय

' काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व '

लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार श्री नरेश मेहता की साहित्यिक मान्यताओं को समझने के लिए हमें उनके ग्रंथ ' काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व ' पर विचार करना होगा । प्रस्तुत ग्रंथ की भूमिका में ही अपने विचारों को व्यक्त करते हुए नरेश जी लिखते हैं - ' मेरा प्रयोजन काव्य के संबंधमें कुछ चर्चा का रहा इसलिए काव्य के माध्यम से धर्म एवं दर्शन भी चर्चित हुए हैं । ' नरेश जी ने काव्य की बहुआयामी सृजन धर्मिता को समझते हुए धर्म एवं दर्शन से उसके तादात्म्य को स्वीकारा है, क्योंकि ऊर्ध्वगामी चेतनत्व की प्राप्ति उसके बिना संभव नहीं है । उनका मत है कि ' जांगलिकता से सांस्कृतिकता की ओर, देह से मन की ओर, जड़त्व से चेतनत्व की ओर मानवीय यात्रा संपन्न हुई, इसका एकमात्र प्रमाण काव्य है । श्री नरेश मेहता की काव्य यात्रा का दूसरा और महत्वपूर्ण स्रोत उनका प्रकृति साक्षात्कार है । प्रकृति को उन्होंने एक नए रूप में ही देखा है । उन्होंने लिखा है --' जीवन-यापन की आदिम दुर्दान्त परिस्थितियों ने तथा आत्मा सुरक्षा ने उसे निश्चय ही द्विपदिक आक्रमणकारी ही बना रखा होगा । लेकिन कभी तो ऐसे अवसर निश्चय ही आये होंगे कि जब प्रकृति की रम्यता ने उसे उसकी द्विपदिक पशुता से ऊपर उठाकर मानवीय उदारता का बोध करवाया होगा । जब बारम्बार प्रकृति की रम्यता से उसका सहात् साक्षात होता रहा होगा तब-तब प्रतिबार अपने भीतर श्रेष्ठत्व का अनिर्वचनीय आनन्द प्रकम्पित होता रहा होगा । ' मानवीय उदात्तताओं की स्रोत स्थली तो प्रकृति है । कवि की इस दृष्टि का परिणाम है कि उसकी काव्यभाषा का विपुल अंश प्रकृति की ओर उन्मुख है ।

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व , पृ० 1

नरेश मेहता मानव के उदात्त पक्ष पर बल देते हैं । मनुष्य के सन्दर्भ में नरेश जी मानते हैं कि इतना अविवादास्पद है कि मनुष्य मात्र देहधारी प्राणी ही नहीं है अत: कैसी ही जांगलिक परिस्थितियां रही हों, वह अपेक्षा कृत चेतन प्राणी ही था । नरेश जी मानवीय अस्मिता के प्रति चिन्ताशील हैं - मनुष्य की श्रेष्ठता काल एवं चेतना के ही कारण है अत: मानवीय विकास को पदार्थ के सामतलिक विकास का पर्याय मानना भूल है । देश और काल जड़ और चेतन का सम्बन्ध- सेतु मनुष्य है अत: ऊर्ध्व और समतल को मनुष्य ही व्याख्यायित तथा अभिव्यक्त करता है । मानव जीवन के संपूर्ण कर्म चक्र की एकमात्र शासिका यह चेतना ही है । काल निर्बाध, अरूप, असीम तथा असंग हैं क्योंकि वह चेतन है । इसीलिए भारतीय दृष्टि पदार्थिक न होकर मुख्यत: तात्विक है । अत: सृष्टि के सृष्टित्व की तात्विकता जानने के लिए पदार्थ या जड़ का माध्यम समीचीन नहीं क्योंकि सृष्टि का अर्थ ही है विस्तृति समाप्ति नहीं । समाप्त वही होता है जिसकी सीमा होती है - फूल का स्वरूप बीतता है न कि उसकी गंध या स्मृति । पदार्थ एवं चिन्तन के इस अन्तर को पहचाननेवाला या वाहक हमारा मन ही होता है । नरेश जी पदार्थ एवं चिंतन के भेद को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं - " पदार्थ की अपनी सत्ता तो होती है परन्तु कोई गति नहीं । चिन्तन सत्ताहीन होने के कारण केवल गति है । "[1]

भारतीय अर्थ - चिन्तन परम्परा में जड़ीय प्रगति को कभी प्रमुखता नहीं दी गयी । जब आर्षता जड़ और चेतन दोनों स्तरों पर " सोऽहं " का उद्‌घोष करती है तब यही तात्पर्य है कि " एकोऽहं "बहुस्याम " या " सोऽहं " ये अअपचियां , अहं के महिमा मंडित उदात्त स्वरूप है । एक से अन एक होने की यह प्रक्रिया है । इसे विलयन न कहकर विशाल होना कहा जायेगा । नरेश मेहता प्रस्तुत ग्रंथ में भारतीय संस्कृति की अजस्र धारा प्रवाहित हुई है - उन्होंने लिखा है कि " भारतीय दृष्टि प्रयोजनवादी रही है । प्रयोजन से तात्पर्य आत्मिक आरोहता से है । इसीलिए हमारी वास्तुकला, चित्रकला तथा नृत्य जैसी

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ० 6

भौतिक कलाएं भी सीधे या प्रकारान्तर से धर्म से संयुक्त रही हैं । संगीत या काव्य जैसी सूक्ष्म कलाएं तो अनिवार्यतः धर्म की अभिव्यक्ति रही हैं । काव्य का धर्म व्यक्तित्व ही मंत्र है । इस सन्दर्भ में भारतीय निस्पृहता को ही स्मरण रखना होगा । निस्पृहता भारतीय जीवन तथा दर्शन का मेरु दण्ड है । नरेश जी का सांस्कृतिक बोध ने यह पहचाना है । हमारे देश के किसी भी अंश से धर्म को अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि केले के स्तम्भ की पर्तों की तरह देश की प्रत्येक पर्त में व्यापक अर्थ में धर्म दिखाई देता है । देश की संस्कृति का आन्तरिक निर्माण काव्य, संगीत , नृत्य, चित्रकला, धर्म आदि से बनता है । धर्मानुभूति का वैसा महत्व है जैसा काव्यानुभूति का । जब धर्म को शब्द एवं अर्थ दिया जाता है तब वह काव्य होता है तथा जब ध्वनि और भाव दिया जाता है तब वह संगीत होता है । सांस्कृतिक समृद्धि के लिए दोनों में समरसता अनिवार्य है ।

नरेश मेहता की दृष्टि मानवीय चेतना के क्रमिक विकास पर केन्द्रित है । इस मानवीय विकास को समझने का हमारा माध्यम, भाषा है । भाषा न यात्रा है न यात्री, वह तो केवल मार्ग है । नरेश मेहता लिखते हैं कि " अन्य जीवों से मनुष्य श्रेष्ठ इन्हीं अर्थों में है कि दूसरे प्राणियों की अपेक्षा उसके पास भाषा है जिसे उसने ध्वनि के स्तर से ऊपर उठाकर अर्थ का स्वरूप दिया । प्रायः जीवों के पास ध्वन्यात्मक भाषायें हैं, जिन्हें संकेत- भाषायें कहा जा सकता है । इस प्रकार की संकेत- भाषायें अर्थ नहीं बना करता बल्कि आदेश या सूचना प्रधान होती है । मनुष्य ने अपनी भाषा को आदेश या सूचना प्रधानता के स्थान पर अर्थ प्रधान बनाया ।"[1]

नरेश जी यह कहना चाहते हैं कि भाषा ही वह माध्यम है जिसके आधार पर हम निश्चित रूप से अपने को पशुबोध से ऊपर चेतन सत्ता के रूप में पहचानवा सके । मनुष्य के रूप में हमें जो भाषा प्राकृत रूप में प्राप्त हुई है, उसे अधिकाधिक संस्कारित बनाकर ही हम श्रेष्ठ मानव बन सकते हैं ।

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ० 10

भाषा का हमारा प्रकृत सम्बन्ध होता है । संस्कार का तात्पर्य ही होता है प्रकृत को प्रकृत न रहने दे बल्कि किसी विशेष प्रयोजन के लिए दिशा- विशेष की ओर उन्मुख करे, संस्कारित करें । व्यक्ति की मानसिकता के उत्तरोत्तर विकास और जीवन के सूक्ष्म प्रयोजन के लिए विकसित एवं संस्कारी भाषा की आवश्यकता होती है । उन्नत एवं उदात्त मन:स्थिति के लिए ज़रूरी है - प्रचलित शब्दों की नई अर्थवत्ता प्रदान करना तथा दूसरे नए पर्याय खोजना । रचनाकार का तेजस् व्यक्तित्व ही नई भाव दशा के अनुरूप अर्थ प्रधान शब्दावली और पर्याय खोजता है । नरेश जी लिखते हैं - " प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास होता है । कोई शब्द किसी का पर्याय नहीं हुआ करता । समान अर्थ के बोधक दो या दो से अधिक शब्द हो सकते हं, होते भी हैं पर वे पर्याय नहीं हुआ करते । पार्थिव - पूजा को मिट्टी-पूजा कहना अनर्थ होगा जबकि मिट्टी एवं पार्थिव समानार्थी शब्द हैं । संस्कारी भाषा द्विरूपा होती है । जो भाषा जितनी अधिक संस्कारित होगी उसके दो लक्षण स्पष्ट होंगे एक तो यह कि उन भाषा का सामान्य स्वरूप भी अपनी दैनन्दिनता में शीलवान लगने लगेगा । दूसरे संस्कारी भाषा अपने विशिष्ट रूप में धर्ममयी होगी । ऐसी धर्ममयी संस्कारी भाषा - अनिवार्यत: व्यक्ति को, जाति को उदात्त बनाती है । अभिप्राय यह है कि कवि ने काव्य को मानवीय औदात्य और गरिमा की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर संस्कारशील भाषा पर जोर दिया है ।

नरेश मेहता मानवीय उदात्तता की प्रक्रिया पर जोर देते हुए लिखते हैं --" स्व " को" पर " के सन्दर्भ में देखना और " पर " को" स्व " के निकष पर अंगीकार करना । यह उदात्तता की प्रक्रिया है । संस्कार, व्यक्ति को उदात्त बनाता है अत: उदात्त व्यक्ति अनुदात्त भाषा से कैसे अभिव्यक्त या संतुष्ट हो सकता है ? इस सन्दर्भ में व्यक्ति को भी स्पष्ट कर लेना होगा । क्योंकि वैसे तो सभी व्यक्ति होते हैं । क्या भाषा में परिवर्तन सभी व्यक्ति करते हैं ? मोटे रूप में समाज के सभी व्यक्ति कुछ न कुछ भाषाई परिवर्तन करते ही रहते हैं परन्तु उनके पास वह जीवन दृष्टि नहीं होती जो कि

किसी विशेष व्यक्ति के पास होती है । ऐसा व्यक्ति संवेदनात्मक स्तर पर अत्यन्त प्रकम्पित स्वभाव का होता है । ऐसी प्रकम्पितता ही उसे उदात्त बनाती है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐसा व्यक्ति स्व के श्रेष्ठत्व का दम्भ रूप होता है । " स्व " के प्रति दाम्भिक भाव होने पर व्यक्ति कभी उदात्त नहीं हो सकता है । जितना ही " स्व " से साक्षात होगा व्यक्ति उतना ही विनयी होता जायेगा । ऐसा उदात्त व्यक्ति जब " मैं " जैसी आत्मनिष्ठ भाषा का भी प्रयोग करेगा तब भी उसमें श्रेष्ठता या दम्भ की ध्वनि के स्थान पर करुणा या अत्यन्त गहन मानवीय सम्पर्क की गंध आयेगी ।"

इस तरह अपनी "अनुभव - सम्पन्नता " और " रागात्मक-तनाव को वाणी प्रदान की जाती है और वैचारिक जगत का व्यक्ति सामाजिक दृष्टि सम्पन्न हो जाता है । वैसे सब व्यक्ति भी व्यक्ति नहीं हुआ करते । व्यक्ति के बारे में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि में मूल अन्तर यह है कि पश्चिम में व्यक्ति हो जाने का तात्पर्य समाज से अधिकाधिक सुविधाएं प्राप्त करना है जबकि भारतीय दृष्टि में व्यक्ति का तात्पर्य है अधिकाधिक समाज निरपेक्ष अपरिग्रही होना हमारा समाज ऐसे व्यक्ति को अपना आदर्श मानती है जिनकी पारम्परिक मूल्यों में आस्था है जो अपने जीवन में संस्कारशील हैं । समाज उसी आदर्श के अनुरूप बनने का उपक्रम करता है ।

यद्यपि साहित्यकार का उद्देश्य राजनीतिक विश्लेषण नहीं तथापि मानवीय औदात्य के लिए इसे नकारा नहीं जा सकता । उन्होंने लिखा है - " राजनीतिक विचारधारा का मूलाधार है - संघर्ष । चाहे वह संघर्ष व्यक्ति - व्यक्ति के बीच हो, व्यक्ति समाज के बीच हो या समाज-समाज के बीच हो । उनके इस संघर्ष या सिद्धान्त को जब भी धर्म दर्शन एवं साहित्य से बल मिला, उन्होंने उसकी प्रशंसा की, लेकिन जब धर्म, दर्शन एवं साहित्य उन्हें बाधक लगे तो समूल नष्ट करने की चेष्टाएं भी की ।" आज हमारी जीवन नीति इसी स्वार्थमयी ,मूल्यविहीन राजनीति से परिचालित हो रही है । आज हमारे

देश में धर्म को राजनीति से अलग करने के लिए तथाकथित धर्म निरपेक्ष देश भक्त राजनेता तत्पर हैं । शायद उन्हें यह पता नहीं की धर्म आत्मा है, आत्मा को निकाल देने पर राजनीति कंकाल मात्र रह जायेगी । वैचारिक जगत में राजनीति का यह भीड़वाद है जो विचार, तर्क या विवेक के स्थान पर संख्या बहुलता के बल पर अपने स्वार्थ की बलसिद्धता सिद्ध करना चाहता है । सामन्तवादी तथा जनवादी राजनीतिज्ञ दोनों यह भूल गये कि राम का महत्व न तो दशरथ नन्दन होने के कारण है और न ही अयोध्या के साम्राज्याधिपति होने में है । राम मानव मूल्यों के जातीय प्रज्ञा प्रतीक हैं । ऐसा जातीय-प्रज्ञा प्रतीक, सामन्तवाद और जनवाद दोनों के ऊपर होता है । "

जहाँ तक काव्य के वैष्णव- व्यक्तित्व का प्रश्न है - कवि ने राम को मानव मूल्यों के प्रज्ञाप्रतीक के रूप में प्रस्तुत कर मानवीय मुक्तता एवं उदात्तता की प्रतीति कराई है, जिससे व्यक्ति विपरीततावों की तात्विकता को आत्मस्थ कर निस्पृहता और अनासक्ति की भूमिका पर खड़ा हो सके ।

जब तक व्यक्ति अत्यन्त ख्यात नहीं हो जाता तब तक समाज को पता ही नहीं चलता कि कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो वर्षों से आरात्रिक, सामाजिक सुख-दु:ख से प्रताड़ित निरन्तर सृजना करता चला जा रहा है । महान सृजनकर्ता जिनमें अंत:प्रेरणा भी प्रचुर मात्रा में होती है वे अपने समय के गहनतम सुख-दु:ख और अन्तर्विरोध के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं करता । समकालीन सामाजिक उपेक्षा के शिकार महाकवि निराला ने -" धिक जीवन पाता ही आया विरोध कहकर सृजनशील रहे । वहीं नरेश मेहता लिखते हैं कि" उदात्त व्यक्तित्व की निर्मिति के पीछे यह प्राथमिक आवश्यक शर्त रही है कि उसका व्यक्तित्व" स्व " के लिए नहीं बल्कि" पर " के लिए है । यह चुनौती ही जब अभिव्यक्ति के स्तर पर अपनी नितान्तता में अभिव्यक्ति होती है तब काव्य सृजन होता है । "अत: जब कवि व्यक्तित्व का अहं दृष्टा की भावातीतता से जुड़ता है तब अहं का विलयन, विसर्जन या उदात्तीकरण

होने लगता है । नरेश जी मानव के उदात्त पक्ष पर बल देते हुए काव्य के माध्यम से विराट चेतना से साक्षात्कार करते हैं । नरेश जी लोक संग्रह से तो नहीं पर लोकानुग्रह से बंधे हुए हैं । अपनी मुक्ति से उन्हें सन्तोष नहीं, वे मुक्ति को काव्य के माध्यम से सब के पास पहुंचाना चाहते हैं ।

नरेश जी के काव्य का वैशिष्ट्य इस तथ्य में निहित है कि वह पाठक को समर्पण की इस कला में दीक्षित करता है कि उनका व्यक्तित्व " स्व " के लिए नहीं बल्कि " पर " के लिए है । स्वयं उन्हीं के शब्दों में -- " काव्य प्रथमतः आत्माभिव्यक्ति है पर अनिवार्यतः " पर " के प्रति सम्प्रेषण भी यह " पर " पर निर्भर करता है कि वह कितना कुछ इस आत्माभिव्यक्ति के प्रति सम्प्रेषित या सम्बोधित होता है । " नरेश जी की दृष्टि में काव्य मानवीय औदात्य की अभिव्यक्ति है । काव्य का प्रयोजन आद्यन्त उदात्तता ही रहा है । काव्य की उदात्तता से तात्पर्य है कि वह केवल अपने सृष्टा रचयिता की गरिमा महत्ता का बोध न करवाए, बल्कि पाठक की गरिमा तथा स्वत्व को भी सम्बोधित जाग्रत तथा उदात्त करे । कवि कर्म की सब से बड़ी कसौटी भाषा है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भाषा के माध्यम से ही भावनात्मक यात्रा करता है । किस बिन्दु पर अभिव्यक्ति कविता बन जाती है और कहां वह कथन मात्र बनकर रह जाती है इसका निर्णायक तत्व भाषा ही है । भाषा न केवल हमें अभिव्यक्त ही करती है वरन् उदात्त भी बनाती है । नरेश मेहता लिखते हैं --" जिस क्षण व्यक्ति कविता के लिए भाषा का प्रयोग करता है वह अनायास ही भाषा के भी उदात्ततम स्वरूप को ही पकड़ता है । + + + अतः काव्य की भाषा अनिवार्यतः द्विज-भाषा होगी । काव्य की उदात्त भूमि को अनुदात्त भाषा अभिव्यक्त नहीं कर सकती । + + + काव्य भूमि के उत्तरोत्तर उदात्त होने का मतलब ही है भाषा और व्यक्ति का उदात्ततर होना । उदात्तता की अन्तिम स्थिति है - निपट सहजता । "[1]

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व , पृ० 18

नरेश जी उदात्तता को ही काव्य भाषा का सर्वश्रेष्ठ गुण मानते हैं इसी श्रेष्ठता के कारण ही काव्य हमें आनन्द देता है । अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आलोचक लांजायनस ने काव्य को उदात्तता की कसौटी पर रखकर लिखा है --' हृदय को स्पर्श करना काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुण है। काव्य तभी हृदय का स्पर्श कर सकता है जब उसके अंतरंग और बहिरंग दोनों में उदात्तता हो । वह हृदय के इसी संस्पर्श को काव्य का सहज - प्रभाव और उसका मूल्य मानता है । '

नरेश मेहता की काव्यभाषा उनकी काव्यानुभूतियों को कितनी सफलता से वहन कर पाती हैं या यूं कहें कि उनकी काव्यानुभूति कितनी सच्चाई एवं खरेपन के साथ उनकी काव्यभाषा में अनुदित हो पाती है, रचित हो पाती है, इसकी परीक्षा कोई सरल कार्य नहीं है क्योंकि यह कार्य शताब्दियों में पूरा होता है । परन्तु जो भी कसौटी तात्कालिक रूप में हमें एक श्रेष्ठ काव्य की पहचान कराती है, वह यही है कि किसी कवि की संस्कारिता उसकी काव्यानुभूति एवं काव्य भाषा को किस सीमा तक जोड़ पाती है और उस जोड़ में वर्तमान की किस सीमा तक संगति एवं सार्थकता बैठती है और भविष्य को कितनी दूर तक आत्मसात किया जा सका है । नरेश जी निश्चय ही इस दृष्टि से विशिष्ट रचनाकार है । काव्यभाषा को लेकर कवि की दृष्टि को हम उन्हीं के शब्दों में देखें - ' भाषा को जितना मुक्त किया जायेगा वह उतनी ही संस्कारवती होती जायेगी । अलंकारिक भाषा बोझिल भाषा होती है । जो भाषा स्वयं ही बोझ हो वह रचनाकार और पाठक दोनों को कैसे मुक्त उदात्त या सहज बना सकती है । '[1]

कवि की उक्ति उसके भाषा संबंधी दृष्टिकोण को काफी दूर तक साफ करती है । उसकी दृष्टि में काव्य-भाषा को शब्द और अर्थ को मुक्ति दिलाने की प्रक्रिया है । अर्थात् श्रेष्ठ एवं सफल काव्य तब चरितार्थ

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व , पृ० 10

होता है जब काव्य का रचयिता और उसके श्रोता-पाठक शब्द और अर्थ की सीमा का अतिक्रमण करके उस आनन्द भूति पर पहुंच जायें जहां शब्दार्थ की सत्ता की अनुभूति भी न रह जाय । काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर शायद इसीलिए कहा गया है । इसी प्रकार काव्य भाषा-मुक्त होता जाता है । परन्तु इस कथन की सीमा भी सदा दृष्टि में रखना होगा । जब कवि यह कहता है कि काव्य भाषा को शब्द एवं अर्थ से मुक्ति दिलाने की प्रक्रिया है तो इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य में भाषा का प्रयोग शब्दार्थ की चिन्ता से मुक्त होकर किया जा सकता है । बल्कि दूसरे छोर पर यह कहना अधिक समीचीन होगा कि शब्दार्थ की श्रेष्ठतम पहचान एवं अभिव्यक्ति ही हमें काव्य के उस स्तर पर पहुंचाती है जहां हम शब्दार्थ से परे जाकर केवल आनन्दानुभूति में तिरने लगते हैं ।

नरेश मेहता भाषा की सहजता पर बल देते हैं क्योंकि काव्य में जितनी अधिक काव्यात्मक संवेदना होगी उसी अनुपात में उदात्तता भी होगी । वे केवल सामने (यथार्थ रूप) में घटित होनेवाली वस्तु स्थिति को ही सत्य नहीं मानते अपितु ' आत्मसाक्ष्य ' के स्तर पर बोध करानेवाली मनोदशाओं को भी उदात्त काव्य की सर्जना हेतु अनिवार्य मानते हैं ।

नरेश मेहता काव्यभाषा एवं उसके प्रयोजन में उदात्तता को ही काव्य की मूल आत्मा मानते हैं । नरेश जी लिखते हैं --' वेद, उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण, पुराण एवं महाकाव्य सभी से यह स्पष्ट होता है कि काव्य के लोकोन्मुखी तथा लोकोत्तर दोनों ही प्रयोजन होते हैं । इन दोनों प्रयोजनों के स्वभाव एवं प्रकृति को धर्ममयता देकर उदात्त बनाया गया है । यमयमी तथा इन्द्र अहल्या जैसे यथार्थ प्रसंगों को भी काव्य-दृष्टि से प्रस्तुत करने के कारण उदात्तता का ही बोध होता है । + + + +

यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि प्रयोजन एवं उपयोगिता दोनों पर्याय नहीं है । उपयोगिता किसी भी वस्तु या विचार के प्रति भोग प्रधान जड़ दृष्टि है । प्रयोजन चेतना, वस्तु या विचार को समस्त सृष्टि के सन्दर्भ में समरसता उत्पन्न करनेवाली दृष्टि है ।'[1]

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ० 15

कवि ने काव्य की प्रयोजनवादी दृष्टि को स्व - व्यक्तियों को " पर "
के लिए आहूत हो जाने का संकल्प मानते हैं । काव्य की इसी प्रयोजनशीलता से
प्रतीक कथा सन्दर्भ के पिंजरे में न रहकर - जीवन मूल्य अथवा मिथक बन जाते हैं ।
नरेश मेहता में जहाँ अपने अतीत के प्रति, प्राचीन मिथकों के प्रति गहरी आस्था
का भाव है वहीं उनमें अपने समकालीन प्रश्नों और समस्याओं के प्रति गहरी
चिंता भी है । उनके मिथक -- प्रयोगों में यह समकालीन चिंता अत्यन्त गहराई
से व्याप्त है । इतना ही नहीं उन्हें यह भी स्पष्ट लगता है कि जिस लम्बी
विकास यात्रा को पूरी करके मनुष्य के रूप में आज गोचर है, उसको सही रूप में
प्रमाणित करने के लिए हमारे चिंतन एवं व्यवहार में ऐसे नये आयामों की
अवतारणा होनी एक अनिवार्य शर्त है जिसके आधार पर हम अपने को पशुबोध
से ऊपर चेतन सत्ता के रूप में पहचनवा सकें ।

नरेश जी की भाषा का स्वरूप बहुत दूर तक इस देश
की आर्ष चिंतन परंपरा से निर्मित हुआ प्रतीत होता है । स्वयं नरेश मेहता
काव्य के वैष्णव परम्परा के विषय में लिखते हैं -- " वैष्णवता से तात्पर्य
क्या है ? वैदिक कवि को जो सब से बड़ी सुविधा प्राप्त थी, वह थी अपने
अनुकूल परिवेश की । सामाजिक दबाव या तो था ही नहीं या नाम मात्र का
रहा होगा । वैदिक कवि सही अर्थों में स्वतन्त्र था -- मानवीय परिवेश,
सामाजिक आचार- व्यवहार , व्यक्तित्व संरचना अभी जटिल नहीं हुए थे ।
वर्चस्व के नाम पर मनुष्य की चेतना ही प्रखर रूप से जाग्रत एवं तपस्यारत थी ।
अस्तु वैदिक ऋषि की अपेक्षा भक्तिकाल के कवि के समक्ष सामाजिक जटिलताएं
अपनी कुरूपताओं में विद्यमान थीं । बौद्धों, नाथों और कापालिकों की
नास्तिकता एवं अनीश्वरता से सामाजिक व्यक्ति मानस जर्जर हो उठा था तो
दूसरी ओर संसार की सब से अविवेकपूर्ण धर्मान्धता- मुस्लिम-एकेश्वरवादिता
अपने मध्यकालीन बर्बर नग्न ताण्डव में सक्रिय थी । जातीय जीवन लौकिक स्तर
पर खण्ड-खण्ड विच्छिन्न होकर संस्कारहीन हो चुका था । जातीय जीवन में
विश्वास की स्थापना-नारायण,भागवत और वैष्णव इन तीन सोपानों पर
की गयी ।

भक्ति युग की यह प्रज्ञात्मकता वस्तुत: दो प्रमुख दृष्टियों का समन्वय है - शैव और वैष्णव । पृथ्वीतर जो सृष्टि की अखण्डता है, शैव दृष्टि उसका प्रतिनिधित्व करती है जबकि वैष्णव दृष्टि इस धरती की वैवीय सुगन्ध को महत्व देती है । इसीलिए शिव अजन्मा है, अक्षर है, शाश्वत है जबकि विष्णु नानाजन्मा है , अवतरित होते हैं और भिन्न- भिन्न गंध प्रस्फुटित करते हैं ।

भक्तिकालीन नाम और संकीर्तन के माहात्म्य से इस देश की प्रत्येक वीथी और प्रत्येक " स्व " अवगाहित हो उठा । प्रज्ञात्मकता जो कि दर्शन के क्षेत्र में बंधी रह गयी थी वह काव्य की रचनात्मकता से पुन: जुड़ न सकी । भाक्तिक चिन्मयता के साथ काव्य का नया सम्बन्ध हुआ और विशेषकर वैष्णव - काव्य में लालित्य नाना रूपों में मुखरित हुआ । रामायण, महाभारत, उत्तर रामचरित, शकुन्तला, गीत गोविन्द , रामचरितमानस आदि में भक्ति दृष्टि एवं लालित्य के रूप में देखे जा सकते हैं । यह भक्ति दृष्टि एवं नारायण की परिकल्पना ही काव्यात्मकता के पुन: प्रसार की वैष्णव कथा है । भक्तिकाल के कवियों ने इसी नारायणत्व को वैदिक ऋषि की भांति साक्षात्कृत करते हुए पद लिखे, गान- गाये, सकीर्तन किया । काव्य के इस अभिनव मंत्र रूप को पाने के लिए इन भक्त कवियों ने भौतिक , सामाजिक और वैयक्तिक स्तर पर जो कष्ट, यातनाएं, लांछन, प्रताड़नाएं, उपेक्षाएं सही वैसी किसी युग के कवियों ने अपनी काव्यात्मकता के लिए नहीं सही होगी । काव्य कितना बड़ा मूल्य मांगता है इसका प्रमाण भक्तिकाल के कवि हैं । इन भक्त कवियों ने काव्य को पुन: ईश्वरीय गरिमा से मण्डित किया । गौरांग महाप्रभु की सकीर्तन यात्राएं यज्ञ- अग्नि की भांति मानवमन की कलुषता को जहां नष्ट करती थी, वहीं उसी में से नये कुंदन मन का आर्विभाव भी होता था । काव्य का मंत्र रूप अब भागवत रूप था । कवि- व्यक्तित्व एक बार फिर से काव्यात्मक - व्यक्तित्व से जुड़ गया । काव्यात्मकता और कवि-व्यक्तित्व जब तदाकार हो जाते हैं तो वे भागवत-धर्मरूप हो जाते हैं और यही काव्य की वैष्णवता है । "

'क्या है यह वैष्णावी संपूर्णता ?'

'वैष्णावता' केवल एक शब्द तो नहीं है, एक पूरी संस्कारिता है, पूरा जीवन-दर्शन है। कवि के ही शब्दों का प्रयोग करें तो जांगलिकता से सांस्कृतिकता की ओर देह से मन की ओर, जड़त्व से चेतनत्व की ओर जो मानवीय की यात्रा है उससे यह वैष्णाव भाव जुड़ा हुआ है। जो पाठक इस पुराण- परम्परा से विछिन्न हैं, उसके लिए वैष्णावी संपूर्णता को समझ पाना उतना सुकर नहीं। एक दो प्रयोग नहीं पूरा का पूरा नरेश मेहता का काम इस आर्ष- सम्पदा से परिपूर्ण है।'

आगे नरेश जी लिखते हैं कि' कला, कला के लिए तथा 'कला, जीवन के लिए, आदि तर्क न केवल अयथार्थिक ही हैं अपितु साहित्य में राजनीतिक हस्तक्षेप है। कहा जा सकता है कि इस प्रकार के तर्क अभारतीय भी हैं। 'भारतीय दृष्टि में 'कला कला के लिए है' अथवा जीवन के लिए ? यह प्रश्न वहीं समाप्त हो जाता है जहाँ यह समझ लिया जाता है कि कलाकार समष्टि से अलग नहीं है। कारण दोनों के जीवन का उद्देश्य है --' उस परम लक्ष्य की खोज।' अतः जहाँ कला का अन्तिम लक्ष्य आनन्द है वहाँ ही उसका अन्तिम लक्ष्य भी' आनन्द' ही है। अतः यह प्रश्न निर्विवाद है। भारतीय काव्य या साहित्य का स्थान भारतीय जातीय जीवन में वैसा ही नहीं है जैसा कि पश्चिम के जातीय जीवन में उसके साहित्य का है। भारत और पश्चिम में एक मूलभूत अन्तर है और वह यह कि भारत में समस्त चिन्तन एवं व्यवहार धर्ममय हैं न कि धर्मबद्ध। पश्चिम में या अन्य सभी जगह जीवन की सारी गतिविधियाँ समरस न होकर विभाजित हैं फलस्वरूप यदि धर्म कहीं केन्द्रीय रूप में है भी तो वहाँ का जीवन धर्ममय न होकर धर्मबद्ध ही है। ईसाई काव्य के द्वारा ईसाई जीवन को धर्ममय बनाने की भी चेष्टा नहीं मिलती। ईसाई काव्यान्दोलनों में कहीं भी भक्तिकाल जैसी चीज़ के दर्शन नहीं होते एवं चिंतन एवं आचरण के स्तर में बड़ा भेद मिलता है, वह यह कि भारतीय धर्म अपने साधनात्मक आग्रह के कारण व्यक्ति को प्राधान्य देने पर भी संपूर्ण समाज को कर्मकाण्ड के द्वारा सम्बोधित करता चलता है जबकि ईसाई और इस्लाम धर्म घोषित रूप से भ्रातृत्व

की घोषणा के बाद इस बारे में चिन्तन की दृष्टि से शून्य है । ईसाई कवियों में संभवत: मिल्टन ही एक ऐसे कवि दिखाई देते हैं जो अपनी रचनात्मकता को ईसाई धार्मिकता के साथ जोड़ने की चेष्टा करते हैं । इस प्रकार की चेष्टाएं वैसे तो निरन्तर होती रही है जिनमें गेटे, रोम्यां रोला, तोल्सतोय, इलियट आदि का कृतित्व महत्वपूर्ण है लेकिन धर्म के प्रति ये सब बौद्धिक यात्रायें ही अधिक हैं । इनमें वैसी उत्कृष्ट कामना, अदम्य पिपासा नहीं जैसी कि कबीर, तुलसी, सूर या मीरा में है ।

भारत में साहित्य कब धर्म बन जाता है और धर्म कैसे साहित्य, समझ में नहीं आता । हमारे देश में धर्म एवं साहित्य पानी में नमक की तरह घुल मिल गये हैं । क्योंकि स्वान्त: सुखाय लिखी गयी एक असंपृक्त संत की रघुनाथ गाथा काल के प्रवाह में कोटि- कोटि जनों के सुख का कारण अहोरात्र बनती जा रही है । भारतीय जीवन दृष्टि समरसता की है, सर्वे भवन्तु सुखिन: की है । वैष्णवता के लिए सारा जगत सुखमय, धर्ममय है । वैष्णव का मैं नहीं हूं, प्रभु है । वे प्रभु को पूर्ण-समर्पित, व्यक्ति विसर्जित अनाग्रही सेवक हैं । वैष्णव आन्दोलन ने अनीश्वरवादी स दुरवस्था से भारतीय समाज को संपूर्ण रूप से खण्डित होने से बचा लिया क्योंकि अनीश्वरवादिता केवल ईश्वर की सत्ता पर ही आक्रमण नहीं है बल्कि इससे बड़ी बात यह है कि वह व्यक्ति को नितान्त अकेलाकर देती है । भारतीय धर्म दृष्टि ने प्रभु के अवतार कराकर उन्हें मानवीय कुल गोत्र प्रदान कर मानव स्तर प्रदान किया और मानवीय सहज सम्बन्ध जोड़े । ईसाई धर्म दृष्टि के अधूरे पन के कारण व्यक्तित्व में दरार उत्पन्न हुई थी । अन्त में वह उसी के प्रति सारे तर्क सौंपकर नि:शेष हो जाता है । भारतीय सन्दर्भ में ऐसी प्रति असहयोगिता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । टी०एस० इलियट में भी ऐसा ही द्वन्द्व है । काव्यात्मकता की कसौटी वह नीति को मानता है जो आनन्दानुभूति में सहायक हो । वह धर्म उसे मानता है जो नीति का स्रोत हो । धर्म का अर्थ है - कैसे जिया जाय " का ज्ञान प्राप्त करना जिस साहित्य में ऐसी धार्मिक प्रबुद्धता बिना किसी सजग प्रयास के व्याप्त रहती है वही

साहित्य श्रेष्ठ होता है और यही गुण उसे साहित्य संज्ञा प्रदान करता है । काव्यात्मकता की दृष्टि से उसे भारतीय औपनिषद्कता आकर्षित करती है परन्तु ईसाई मतावलम्बी होने के कारण वह साभास ईसाई धर्म की ओर लौट जाता है ।

भारतीय काव्यात्मकता मिथकों के सहयोग से अपने को धर्म दृष्टि के स्तर तक विकसित करने की चेष्टा करती रही है, इसलिए भारत में ऋषि और कवि प्राय: पर्याय रूप रहे हैं जबकि अन्यत्र ऐसा नहीं हुआ है ।

नरेश मेहता की पूरी काव्य-यात्रा से गुजरते हुए मुझे लगा कि उनमें अपने प्राचीन मिथकों के प्रति गहरी आस्था का भाव है । वे लिखते हैं — ' काव्य में वैसे तो कई प्रकार से धर्म-दृष्टि सहयोग करती है, लेकिन सब से बड़ा उसका योगदान होता है - ' मिथक ' । किसी भी संस्कृति के काव्य के ' मिथक ' धर्म प्रदत्त ही होते हैं । काव्य अधिक से अधिक बिम्ब, प्रतीक या फैंटेसी का ही निर्माण कर सकता है । ' मिथक ' का नहीं । मिथक समाज के सांस्कृतिक संघर्ष को निरन्तर प्रक्रिया है जिसका साक्षात् धर्मदृष्टि ही करती है ।

अनुभव के जिस बिन्दु पर धर्मदृष्टि समग्र होती है, वहाँ एक" मिथक " का जन्म होता है । एक संपूर्ण समाज जब प्रदीर्घ काल तक ऐतिहासिक अनुभव से गुजरता है तब मिथक प्रादुर्भूत होता है ।"[1] मिथक कल्पना नहीं होते बल्कि अपने में से नयी कल्पनाओं को, नवीन उद्भावनाओं को जन्म देते हैं। मिथक फैंटेसी भी नहीं होते, क्योंकि फैंटेसी अमूर्त हो सकती है, फैंटेसी की सीमा यह है कि वह प्रकृत्या अमूर्त होने के कारण, रचना क्षमता के बावजूद अपने सम्बोधन में सार्वजनीन नहीं हो पाती । मिथक जातीय सम्पदा होते हैं अतः जब भी ऐसे किसी मिथक का प्रयोग किया जायेगा तब यह माना जायेगा कि उक्त रचना का प्रयोजन जातीय सम्बोधन करना है । इस प्रकार के सम्बोधन के लिए कवि को इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त है कि उक्त मिथक को नयी रचनात्मक मुद्रा तो दी जा सकती है, परन्तु उसकी धर्मदृष्टि नहीं बदली जा सकती है । समाज के विकास के साथ-साथ मिथक भी विकसित होते गये । वाल्मीकि के राम से लेकर निराला के राम तक की यात्रा के बीच राम के सैकड़ों स्वरूप मिल जायेंगे जो आपस में प्रति-विपरीत भी होंगे । स्वयं भक्तिकाल में" राम " काव्य का एक ऐसा मुहावरा बन जाते हैं, जो कि कबीर जैसे विद्रोही कवि को भी अपने अनुकूल लगता है और पारम्परिकता के आग्रही तुलसीदास के तो वे आराध्य हैं ही । राम जैसा आधारभूत मिथक, विकसित होते हुए आज हमारे बीच इस प्रकार क्षयहीन स्थिति में खड़ा हुआ है कि इसमें कहीं भी धर्म के जड़ रूप रूढ़ि की गंध तक नहीं आती । धर्म ने जिस सत्य का साक्षात्कार इस" मिथक " के द्वारा किया, वह देश काल की नाम रूपता से भी परे था ।" जिस धर्म ने भारतीय जनमानस को धर्मदृष्टि प्रदान कर धर्ममय किया, वह विवेक का एक इतिहास है न कि जात पांत कुआ-छूत या चूल्हे-चौके की मृत मुमूर्ष रूढ़ियां । धर्म का अतीत सामाजिक जीवन का कंकाल न समझना चाहिए वह उसके युग-युगीन हेतु भूत प्राण रहा है । जो कि एक सनातन ज्ञान से अभिन्न है । सामान्यतया धर्म से नैतिक-मूल्य और उनकी चेतना का बोध होता है । विधि-निषेध की नाना व्यवस्थाओं और संस्थाओं में रामायण ,महाभारत के आदर्श -

---

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व , पृ० 65

चरित्रों में और प्रचलित कथाओं में व्यक्त होकर धर्म की यह नैतिक चेतना समाज में अनवरत व्याप्त रही है । "

भारत में जब- जब साहित्य ने इस धर्मदृष्टि से अपने को अलग किया है, तब-तब उसकी स्थिति विषम ही हुई है । मध्ययुग में उसे राजाश्रय प्राप्त करना पड़ा और चारण तथा चाटुकार तक बनना पड़ा । आज के हमारे युग में साहित्य जिस मरुता में पहुंच चुका है वहां साहित्य के भावी सृजन तक पर प्रश्न चिन्ह लगता जा रहा है । भारतीय संदर्भ में तो मुझे धर्म या धर्मदृष्टि से डरने की कोई आवश्यकता नहीं दिखती, क्योंकि ये दोनों ही हमारे यहां ऐसे जड़ या स्थिर बिन्दु नहीं कि जो मनुष्य के वैचारिक, सामाजिक चिंतन विकास के साथ क्रमिक विकसित न हुए हों । देखना यह चाहिए कि धर्म, समाज, चिन्तन, साहित्यआदि विकास प्रक्रिया में से गुज़र रहे हैं कि नहीं । धर्मदृष्टि और काव्यात्मक दृष्टि की जिस एकता की बात हमने पहले कही है, उससे हमारा तात्पर्य है कि भारतीय चिन्तन में वे दोनों ही बातें " धर्म " संज्ञा में अन्तर्भूत है ज कि दर्शन और काव्य के द्वारा जानी जाती है । दर्शन की तार्किक जिज्ञासा और काव्य की रमणीय स्वीकृति दोनों ही दर्शन के द्वारा अभिव्यक्त होती है । संभवत: इसीलिए भारतीय धर्म, चिन्तन अपनी जिज्ञासा में भी सदा काव्यात्मक रहा है तथा यहां काव्य अनिवार्यत: दर्शन प्रधान है । यहां नरेश जी साहित्यकार के लिए धर्म-दर्शन की चिन्ता को अनिवार्य मानते हुए लिखते हैं कि - " दर्शन धर्म का बोध रूप है और काव्य उसकी मार्मिकता, इसीलिए अगत्या धर्मदृष्टि काव्यात्मक दृष्टि ही बन जाती है । धर्मदृष्टि ने दर्शन के स्तर पर जिस " सोऽहं " की उद्घोषणा की उसका आचरण रूप ही अहिंसा था । करुणा और अहिंसा के ऊपर की मानसिकता है, " सोऽहं " । धर्म का परात्पर रूप " सोऽहं " है, तो चराचर के बीच वह अहिंसा रूप में विद्यमान है जैसे कि करुणा रूप बनकर वह मानवीय स्तर पर संचरित है । "[1]

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व , पृष्ठ सं० 81 ।

नरेश मेहता जी के काव्य का वैष्णवी व्यक्तित्व हमारी प्राचीन वैष्णवी परम्परा से प्रसूत है । वैष्णव भक्ति परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । विष्णु एक वैदिक देवता हैं । वेदों में इनका स्थान विशेष महत्वपूर्ण नहीं माना गया है । सर्वप्रथम " ऐतरेय-ब्राह्मण " में विष्णु को सम्मानित पद प्राप्त हुआ । " शतपथ-ब्राह्मण " में विष्णु का महत्व और बढ़ गया है । महाभारत में विष्णु के छ: अवतारों - वाराह, नृसिंह, वामन, भार्गवराम, दशरथिराम, वासुदेव कृष्ण में से एक माना गया है । महाभारत से ही यह सूचना मिलती है कि " एकांतिक " नारायणीय, पंचरात्रिक, सात्वत और भागवत ये सभी धर्म वैष्णव परम्परा के अन्तर्गत है । कालान्तर में उपनिषदों का तत्व-चिन्तन भी मानव की राग-भावना को तुष्ट करने में असमर्थ हुआ और भक्ति प्रधान धर्म की आवश्यकता का अनुभव किया गया ।

भागवत या वैष्णव धर्म इसकी पूर्ति में सहायक हुआ । ईश्वर प्राप्ति में मात्र प्रेम को ही केन्द्रीय तत्व मानने के कारण इस धर्म का लोक व्यापी प्रचार हुआ और आर्येतर जातियों को भी इसमें स्थान प्राप्त हुआ । "भक्तिकालीन सन्तों एवं कवियों ने वैष्णव-धर्म को धार्मिक आधार प्रदान किया । उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि जब मनुष्य भक्ति से अभिप्रेरित होकर ईश्वर को आत्म समर्पण कर देता है तब ईश्वर की " अनुकम्पा " अथवा "प्रसाद " से उसे मुक्ति मिल जाती है । वैष्णव उपासक अपने की मूर्ति को श्रीविग्रह या अर्चा कहते हैं और उसे स्वयं ईश्वर का एक रूप या देवता मानते हैं । ईश्वरीय सत्ता अवतार के रूप में पुन: पृथ्वी की बान्धवता, कुलगोत्र को स्वीकार कर लौटी और भक्ति युग इन्हीं अवतरणों का रागात्मक महारास गायन-कीर्तन बना । पुराणों ने इसकी आधारभूमि पहले ही तैयार कर दी थी ।"[1] उपरोक्त काव्यात्मकता ही धर्म का वैष्णव व्यक्तित्व है, जबकि दर्शन उसका शिव रूप है । वह समस्त जैविकता के धारक हैं । जीवन उनसे नि:सृत हुआ है । न कि जीवन ने

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व , पृ० सं०

उन्हें उत्पन्न किया है । शिवत्व अप्राप्यावस्था ही है जो प्राप्यावस्था है वह वैष्णवत्व ही है । शिव की करुणा वैष्णवता है इसीलिए धर्म की काव्यात्मकता ने शिव की इस वैष्णव गंध को ही अपनाया जब कि दर्शन ने इस वैष्णवता के सोऽहं रूप की अरूपतावाले शिवत्व की उद्घोषणा की । शिवत्व एवं वैष्णवत्व में तत्वत: कोई अन्तर नहीं है । वैष्णवी ऊर्ध्वोन्मुखता ही शिवत्व है और शिवत्व की अवतारणा ही वैष्णवता है । दर्शन और काव्यात्मकता का यह अनाविल चक्र ही धर्मचक्र है । धर्मचक्र जब ऊर्ध्वोन्मुखी होता है तब वह दर्शन होता है और जब वह अवतरण करता है तब काव्य होता है ।

काव्य की वैष्णवता पर स्वयं नरेश जी के विचार -

" देखना यह होगा कि इस वैष्णवी व्यक्तित्व की कुलगोत्रता, बधु-बान्धवतावाली काव्यात्मक लीलामयता का स्वरूप क्या है ? वैष्णवता की इस प्रतीति को ही काव्य की प्रतीति क्यों माना गया ?

- मानवीय करुणा और जैविक - अहिंसा की भावनात्मक रास लीला वैष्णवता है । अणु मात्र में जीवन का स्पन्दन अनुभव करना दार्शनिक प्रतीति है, परन्तु उसके साथ कुलगोत्रता, बन्धु-बान्धवता अथवा सुख-दु:खमय आत्मीयता अनुभव करना वैष्णवता है । ऐसी वैष्णवता ही व्यक्तित्व को भागवत बनाती है । इस प्रकार की विराट पारिवारिकता का कोई एक आधार केन्द्र होना आवश्यक है । बिना इस प्रकार की केन्द्रीयता कैसा भी चिन्मय-विराटभाव विकीर्ण हो सकता है । प्रज्ञावान के लिए ऐसा केन्द्रीय व्यक्तित्व अपौरुषेय, अरूप, निर्गुण भी हो सकता है लेकिन साधारण व्यवहार जगत विश्वास का जगत है । विश्वास सगुणता चाहता है । सगुणता रूपाकार होगी ही । ऐसे रूप की तब सीमा भी होगी । साधारण जन के सीमित व्यक्तित्व के लिए यह सीमित अपौरुषेयता आनन्द का कारण बनती है । यह आनन्द लौकिकता के स्तर पर इन्द्रियगत होता है अत: इसे ब्रह्मानन्द सहोदर की संज्ञा दी गयी है । "[1]

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ०सं० 83

भोगी के लिए अपौरुषेय के सन्दर्भ में जो ब्रह्मानन्द है, वह व्यवहार जगत में वैष्णवता के स्तर पर ब्रह्मानन्द सहोदर है । आनन्द के स्तर पर अपौरुषेय की यह शैव एवं वैष्णव मात्रा काव्यात्मकता का कारण बनी । वैष्णवता ने उस अपौरुषेय सत्ता को ऐसी पारिवारिकता दे दी कि वह दैनंदिन जीवन के क्रियाकलाप, सुख-दु:खों तथा शोक-विशोक की समभागी बनी । भला ऐसे सहज सम्भागी सत्ता के लिए कष्टसाध्य साधना की क्यों अपेक्षा हो ? अपौरुषेयता की इस प्रकार की विद्यमानता , कथात्मक- लीलामयता का कारण बनी और फिर तो राम और कृष्ण घर- परिवार, गली-बाट, घाट-हाट कहाँ नहीं देखे गये ? कौन कदम्ब , कौन सरिता , कौन केवल, कौन सखा, कौन गोपी इस कथात्मक लीलामयता से बच सका ? भक्तियुग में अपौरुषेयता असंख्य प्रसंग रूप धर कर प्रस्त्रवित हुई और समस्त भारत भूमि प्रभु की धर्म लीलाओं, मात्राओं से अभिषिक्त हो उठी । साधारण घर की एक संज्ञा तक मन्दिर हो गयी । मानवीय रक्त-माँस मज्जा भी उसका चैतन्य धाम बन गया । जड़ और चेतन समस्त प्रभुता सम्पन्न राम और कृष्ण के वैष्णव रूप हो गये । जो जहाँ था वह वहाँ स्थिर न रह सका । चैतन्य, जयदेव, विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, नरसी मेहता,तुकाराम नामदेव, रसखान कौन इस वैष्णवीवासी के आह्वाहन पर अपनी सीमित पारिवारिकता, कुल -गोत्रता और बन्धु- बान्धवता में बन्दी रह सका ? समस्त देश वैष्णव - उत्सव, पर्व, अनुष्ठान का पर्याय बन गया ।

काव्य का यह वैष्णवी - व्यक्तित्व दो आयामी हैं -- राम और कृष्ण । राम और कृष्ण जीवन के प्रति वैष्णवता के ये दो ऐसे संबोधन हैं जो कर्तव्य एवं लालित्य पर बल देते हैं । मानवीय व्यक्तित्व में मर्यादा और उन्मुक्तता के दो परस्पर विरोधी पक्ष हैं जिन्हें राम और कृष्ण के माध्यम से वैष्णवता ने व्याख्यायित तथा विरचित भी किया ।

' रामकथा का मूलाधार है - मर्यादा । राम और सीता से सम्बद्ध जो एकान्त स्थल हैं, वे अपनी रमणीयता के बावजूद मर्यादित है ।

इसीलिए कौटुम्बिकता, पारिवारिकता, बन्धु- बान्धवता या राष्ट्रीयता के प्रति उत्सर्गित मर्यादा का नाम ही राम है । इसीलिए वल्लभ सम्प्रदायी होने पर भी गांधी को राम ही आदर्श लगे । पूरी रामगाथा में सामाजिक मर्यादा धनुष पर खिचें हुए बाण की तरह कार्य करती है । कितनी ही मर्मस्थल तथा करुण स्थितियां उत्पन्न होती हैं परन्तु राम का वैष्णवी व्यक्तित्व सिन्धु के समान अमर्यादित नहीं होता ।[1] वाल्मीकि में भी राम समस्त आलोकित हो जाते हैं परन्तु अमर्यादित वहां भी नहीं होते । तुलसी राम का चरित्र चुनते हैं अपने लिए जो मर्यादा पुरुषोत्तम है और हर तरह से आदर्श के प्रति रूप है । ईश्वर में पूरी आस्था और मनुष्य का पूरा सम्मान ये दोनों दृष्टियां तुलसी में एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं ।" सिया राम मैं सब जग जानी । करहु प्रनाम जोरि जुग पानी । " जैसी पंक्तियां इस गहरे आत्म विश्वास पर लिखी जा सकती हैं, जहां ईश्वर एवं मनुष्य दोनों की एक साथ प्रतिष्ठा हो ।"सियाराम" यदि उनकी भक्ति के आश्रय स्थल हैं तो" सब जग " उनके रचना कर्म के लिए । रामगाथा उत्तर और दक्षिण के दोनों भूभागों को समेटती है । यदि रामगाथा का मात्र लौकिक या साहित्यिक प्रयोजन होता तो इस त्रासद कथा का अन्त अनेक प्रकार से संभव था । यदि राम की वैष्णवी वर्चस्विता ले ली जाय तो राम के व्यक्तित्व में एक प्रकार का हैमलेट तत्व निहित है परन्तु भारतीय काव्यात्मक दृष्टि की यह प्रारंभिक शर्त है कि घटनात्मक कौतूहलता के माध्यम से जीवन की व्याख्या नहीं की जायेगी । राम की ऐकान्तिकता में आद्यन्त एक ऐसा व्यक्तित्व दिखलाई देता है जिसमें शेक्सपीयर के पात्रों की झलक दिखाई देती है । परन्तु मानवीय चरित्र की इस यथार्थ आधारभूमि पर वैष्णवी करुणा ने मर्यादा का एक ऐसा प्रासाद खड़ा किया कि राम की परिकल्पना चरित्र से ऊपर उठकर" मिथक " बन जाती है " किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व" सम्पूर्ण जातीयता का पर्याय बन सके, काव्यात्मकता के प्रति यही वैष्णवी दृष्टि है । फलतः राम जैसा संमत परन्तु त्रासद मिथक -पुरुष विश्व साहित्य में नहीं प्राप्त होता[2]

1-काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व,पृ० सं० 85 (2) वही, पृ० 86

सूर का पक्ष कृष्ण का है जिन्हें लीला पुरुषोत्तम कहा गया , जो यथार्थ के हर पक्ष से निपटने को तैयार हैं, पूतना से लेकर दुर्योधन तक और जिनका पति की अपेक्षा प्रेमी रूप अधिक चित्रित है ।

इस प्रकार पौराणिक कृष्ण वैष्णव बने । यमुना पुलिनों पर, कदम्ब कुंजों में, मथुरा वृन्दावन की कुंज गलियों में अब प्रभु की अबाध लीलायें सम्पन्न होने लगी । मर्यादा और लीला के सन्दर्भ में दो प्रकार की वैष्णव भक्ति सामने आयी । यद्यपि भक्ति नवधा ही स्वीकारी गयी -" श्रवण, कीर्तन, स्मरण पाद सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य तथा आत्म निवेदन । पर प्रमुखता सखाभाव एवं दास भाव को ही प्राप्त हुई । दासभाव, वैष्णव- मर्यादा स्वरूप में पनपी और सखा-भाव वैष्णव लीला स्वरूप में विकसित हुई । दासभाव से वैष्णवता का तात्पर्य था कि यद्यपि प्रभु सामान्यजनों की सी कुल गोत्रता और बन्धु-बान्धवता के साथ हमारे बीच उपस्थित हुए हैं, परन्तु वह तो सत्तात्मक अपौरुषेय ही अतः हमारी भक्ति दासभाव की ही होगी । यही दासभाव वैष्णव मर्यादा है और राम इसी मर्यादा के पुरुषोत्तम हैं । लेकिन इस प्रकार की मर्यादा कृष्ण काव्य में नहीं है । वहां प्रभु राजपुरुष न होकर सामान्यजनों की भांति ही एक गोपाल मात्र है । विशिष्ट अवश्य है परन्तु भयद नहीं है सुखद है । वैसे तो अपने गांव और साथी गोपीजनों के लिए ही गोवर्धन उठाते हैं लेकिन प्रकारान्तर से वह समस्त जड़त्व या पदार्थ को ही अपनी छोटी सी अंगुली पर धारण कर लेते हैं । प्रभु सामान्यजनों के रात- दिन की तरह हो जाते हैं । वह चोरी करते हैं, आंख मिचौनी खेलते हैं, झूठ बोलते हैं, छेड़- छाड़ भी करते हैं तथा पड़ोसियों द्वारा उलाहना दिए जाने पर माता यशोदा द्वारा मथनी की रस्सी से मार भी खाते हैं भला ऐसे प्रभु के साथ दासभाव कैसे अनुभव किया जाता है ? अतः कृष्ण-काव्य में सखा या माधुर्य-भाव ही मुखरित हुआ । मणिपुर से लेकर गुजरात तक राधा और कृष्ण का महारास सम्पन्न होने लगा । मीरा वैष्णवता के इस महा आनन्द की परिकल्पना मात्र से ऐसी आकुल कपिला बनी कि देश छूटा, कुल-गोत्र-छूटा, बन्धु- बान्धवता छूटी और तो और नारी-सुलभ लज्जा भी छूटी । राजरानी से वह सामान्य माटी की रजकण बनी ताकि व्यक्तित्व

की लयात्मकता नटनागरमय हो जाए । दासभाव और सखाभाव की यह चैतन्यमयी वैष्णवता भारतीय विकास का शीर्ष बिन्दु है । इसे मंत्रात्मक विद्युन्मय बनाने के लिए बारम्बार, अहोरात्र, आपादमस्तक, आकण्ठ दुहराये जाने की प्रक्रिया को स्वीकारा गया । चैतन्य , जयदेव, सूर, तुलसी, मीरा, नरसी, मेहता आदि की वैष्णवी सामान्यता योग के पद पर प्रतिष्ठित हुई ।

वस्तुत: काव्य-सृजन कवि के संकल्प की अपेक्षा रखता है । ऐसा संकल्प अमूर्त नहीं हो सकता । साथ ही संकल्प अविश्वास का भी नहीं हो सकता । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है आस्था का व्यक्त रूप ही संकल्प है । अनास्थित मनस रचना क तो क्या रचना का संकल्प भी नहीं कर सकता है । भारतीय सन्दर्भ वैसे तो सारी कलाएं अत: काव्य-सृजन भी धार्मिक, कृत्य के रूप में विकसित हुआ । स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे यहाँ धर्म और काव्य पर्याय हैं । चूंकि हमारी परम्परा यही रही है अत: कवि से तात्पर्य ऋषि संत से ही होता है । इससे स्पष्ट है कि जनमानस के सम्बोधन के लिए साहित्यिकता के अतिरिक्त धार्मिकता की भी आवश्यकता है । धर्म इस देश का मेरुदण्ड है जिस व्यक्ति चाहे वह कवि हो सुधारक हो, विचारक हो यह मेरुदण्ड होता है, भारतीय जनमानस उसी के निकट विनम्रित होता है । गांधी के हाथों में यह मेरुदण्ड था इसीलिए वह इस देश के कण-कण में बस गया । धर्म वह है जो आपको अपने अहं से बाहरी उपकरणों के घटाटोप से, विराट के साथ एकाकार होने के श्रम और प्रयास के बोध से मुक्त कर भावना, श्रद्धा और समर्पण की ऐसी नौका में उतार देता है जिसमें बैठकर आप पाते हैं कि नौका अपने आप बही चली जा रही है और अपने गंतव्य- प्राप्तव्य ईश्वर या उसे आप जो भी कहना चाहें उसके पास पहुंचने का लगातार उसके करीब होते चले जाने का भाव आपको मुग्ध किए रहता है । धर्म समर्पण और भावना के सोपान के सहारे अपने इष्ट से मिलने के प्रयास का नाम है । जब भी धर्म से हटकर साहित्य-सृजन किया गया तभी काव्य, कवि-व्यक्तित्व दोनों द्वितीय श्रेणी के सिद्ध हुए हैं ।

भक्तिकाल के तत्काल बाद रीति साहित्य अपनी सारी वाग्विदग्धता, अलंकरण से भी प्रथम श्रेणी का काव्य नहीं बन सका । रीतिकाल के सारे कवि द्वितीय श्रेणी के थे । विराट-काव्यात्मकता की मेधा उठाने किसी के पास नहीं थी । रीतिकाल भी एक प्रकार से वैष्णवी परंपरा से विद्रोह था । विद्रोह के लिए विद्रोह जब भी हुए दया के पात्र रहे हैं ।

बीसवीं शती में ऐतिहासिक स्तर पर जब पुनर्जागरण की आवश्यकता हुई तब वह पुनर्जागरण लौकिक जड़ता के लिए नहीं था बल्कि धार्मिक चैतन्यता के लिए था । विवेकानन्द और गांधी ने इस चिन्मयता को सम्बोधित किया जिसकी दूरागत अनुगूंज रवीन्द्र, प्रसाद जैसे कवियों में हम पाते हैं । प्रसाद इस भक्तियुग की वैष्णवता से जुड़ने के स्थान पर वह शैवता के प्रति आकृष्ट हैं । यह सर्वथा नयी भावभूमि थी अत: कठिन थी ।" प्रसाद" में एक आश्वस्ति का स्वर है जो अन्य छायावादी कवियों में नहीं रहा । छायावाद उस प्राचीन धर्मदृष्टि का आभास देने की चेष्टा करता है जो कि उपनिषद् काल की लगती है । भक्तिकाल की वैष्णवता से वह अपना सम्बन्ध अनेक कारणों विशेषकर राजनीतिक कारणों से स्थापित नहीं कर सका । छायावाद के बाद काव्यदृष्टि न केवल आत्मनिष्ठ ही हुई बल्कि अराजकतावादी हो गयी । आज के कवि पर आन्तरिक और बाहरी सभी प्रकार के दबाव हैं । देश में हुए परिवर्तनों औद्योगिकीकरण, नगरीयता का बढ़ना आदि अनेक कारण है । जिनके अन्तर्गत आज का कवि मानस संरचित है । स्वाधीनता के पूर्व तो बाहरी दबावों से लड़ने के लिए राष्ट्रीयस्वर पर स्वत्व जगाया गया था परन्तु स्वाधीनता के तत्काल बाद से अदूरदर्शी प्रशासकों ने राष्ट्र विचारक बुद्धिजीवियों, लेखकों से यह सुरक्षा कवच भी छीन लिया और कहा गया कि विश्व मनस के निर्माण युग में राष्ट्रीयता प्रतिक्रिया है । गत पच्चीस वर्षों में बाहरी दबाव राष्ट्रीय मेधा की सहन शक्ति से परे हो गया है । फलत: वस्त्रों से लेकर विचारों तक विदेशों से आयात करनेवाले देशों में हम अग्रणी

है । आज हमारा राष्ट्रीय और जातीय स्वत्व आयातित स्वत्व हो गया है इस वैचारिक दारिद्रय का नतीजा यह हुआ कि हम अपनी आरण्यकता, शैवता, वैष्णवता सभी कुछ न केवल खो बैठे हैं परन्तु हम फिर एक बार उसी अन्ध-युग की विस्मृत जाति और देश हो गये हैं, जो कि पूर्व वैष्णव युग में थे । अभी सब कुछ नष्ट हुआ नहीं लगता क्योंकि हमारे देश के सामान्य जनजीवन से वैष्णवता अभी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई है । अभी भी भक्तियुग के दृश्य देखे जा सकते हैं -

भक्त कवियों ने काव्य के आनन्दोत्सव के समय उपस्थित रहने के लिए एक भिन्न मार्ग का अनुशरण किया कि वे रचयिता ही नहीं है । प्रभु को पूर्ण - समर्पित, व्यक्ति विसर्जित अनाग्रही सेवक हैं । यदि वे नहीं होगें तो प्रभु की सेवा कौन करेगा ? इस प्रकार की सीमा तक अव्यक्ति बन जाने का संकल्प शायद आज के कवि को स्वीकार न हो पर यह भी एक मार्ग है - बहुत कुछ निरापद । व्यक्ति-विस्तार के बहुस्याम हो जाने की निष्पत्ति औपनिषदिकता है तो व्यक्ति - समर्पण की निष्णात प्रतिश्रुति वैष्णवता है । अहं, अहं का विलयन स्व का विस्तार- औपनिषदिक प्रक्रिया है जबकि वैष्णव भक्ति-दृष्टि अहैतुक कृपा प्रभु की अनुकम्पा ,नित्य का सान्निध्य, सेवा की निकटता की कामना में विलीन होती है । प्रयोजन और परिणति की दृष्टि से दोनों एक ही हैं । उपनिषद् यदि पुरुषार्थ भाव है । तो वैष्णवता कृष्णार्पण । उपनिषद् में यदि अर्जन का वर्चस्व है, तो वैष्णवता में अनुकम्पा की प्रशान्तता । यह वैष्णवता नरेश मेहता की काव्यभाषा को संस्कारित करती है किन्तु इतना ही काफी नहीं है कि हम किसी कवि के स्रोत स्थलों को खोज निकाले और सन्तोष कर लें कि हमने उनकी काव्यभाषा के स्वरूप को पहचान लिया है । काव्य-भाषा का गहरा सम्बन्ध काव्यानुभूति से है और काव्यानुभूति की पूरी समझ के लिए हमें और अधिक उस रचनारत मानस की गहराई में झांकना होगा ।

जब हम नरेश मेहता की काव्य-भाषा की अन्विति को स्वायत्त करने हेतु अग्रसर होते हैं तो सब से गहरी विशिष्टता उसकी वैष्णवता एवं

भाववाचकता प्रतीत होती है । उन्हें यह सृष्टि अपनी वैष्णवता में ही आह्लादित करती है । प्रत्येक संज्ञा अपने संज्ञान्व से आगे बढ़कर अपनी भावात्मकता में ही उन्हें संविवित करती है । उन्हें वनस्पति उतनी प्रभावित नहीं करती जितनी वानस्पतिकता, वैष्णव उतना प्रभावित नहीं करता जितनी वैष्णवता, वृन्दावन उनके मन को उतना नहीं स्पन्दित करता जितनी वृन्दावनता । वानस्पतिक - प्रियता, उत्सव वैष्णवता, वैष्णवी - संपूर्णता, आकाश की नीलवर्णता, राग की असमाप्तता , तापसी कुन्वनता, विशाल - कौटुम्बिकता, उपनिषदीय आश्रमता, कारुणी असंगता, चपल कौतूहलता, वासुदेविक प्रकम्पितता, वैदिकता, आरण्यकता, वानस्पतिक, ऊर्ध्वता, अनुग्रह जैसे प्रयोग कवि - व्यक्तित्व की एक ढलान की ओर निर्भ्रान्त संकेत करते हैं और वह ढलान है वस्तु की आन्तरिक सत्ता, भाव-सत्ता से साक्षात्कार की प्रवृत्ति । नरेश मेहता को बार-बार यह लगता है कि उसी आन्तरिक सत्य को छूना है, उसे आत्म साक्षात्कार करना है, उसे ही स्पन्दित करना है । इसीलिए उनकी दृष्टि, उनकी अनुभूति बराबर भाव-वाचक शब्दों की तलाश में बेचैन रहती है । नरेश जी की काव्यानुभूति पर दृष्टि डालने पर एक और बड़ा सत्य उद्घाटित होता है और वह है संसार को समझने और देखने की उनकी प्रज्ञा ।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि नरेश मेहता की भाषा का स्वरूप बहुत दूर तक इस देश की आर्ष-चिन्तन परम्परा से निर्मित हुआ प्रतीत होता है । उनकी शब्दावली आर्ष- चिन्तन की शब्दावली है । जो पाठक जिस सीमा तक इस शब्दावली से इसकी अन्तरात्मा से परिचित है उसे उसी सीमा तक नरेश जी का काव्य सुपरिचित लगेगा । उस चिन्तन एवं संस्कारिता से मुक्त व्यक्ति को नरेश जी का काव्य अपरिचित, कृत्रिम एवं आरोपित लग सकता है । क्या है यह वैष्णवी संपूर्णता? वैष्णवता केवल एक शब्द तो नहीं है, एक पूरी संस्कारिता है, पूरा जीवन-दर्शन है । कवि के ही शब्दों का प्रयोग करें तो जांगलिकता से सांस्कृतिकता की ओर, देह से मन की ओर, जड़त्व से चेतनत्व की ओर जो मानवीय चेतना की यात्रा है उससे यह वैष्णव-भाव जुड़ा हुआ है ।

नरेश मेहता का संपूर्ण काव्य इस आर्ष- सम्पदा से परिपूर्ण है । नरेश मेहता अपनी काव्यात्मक अस्मिता के लिए अभिनव वैष्णवता की आवश्यकता अनुभ करते हुए लिखते हैं कि —" यदि भारतीय काव्यात्मकता को संरचनात्मक उपलब्धि तथा पहचान के स्तर पर अपनी अस्मिता को सिद्ध करना है तो धर्मदृष्टि की इस शिव- वैष्णवता को अभिनव रूप में स्वीकारने में संकोच नहीं होना चाहिए। अपनी धार्मिक- अस्मिता तथा ऐतिहासिक विशिष्टता ही हमारे काव्यात्मक व्यक्तित्व को वानस्पतिक गंध और वाचस्पतिक मंत्रता प्रदान कर सकती है ।

नरेश मेहता की काव्यभाषा उनकी काव्यानुभूतियों को कितनी सफलता से वहन कर पाती है या यूं कहें कि उनकी काव्यानुभूति कितनी सच्चाई एवं खरेपन के साथ उनकी काव्य-भाषा में अनुक्ति हो पाती है, रचित हो पाती है इसकी परीक्षा कोई सरल कार्य नहीं है क्योंकि यह कार्य शताब्दियों में पूरा होता है । विशेषकर महान कविता की सब से बड़ी पहचान यही होती है कि वह समय की सीमा किस हद तक तोड़ पाती है ।

वाल्मीकि या कालिदास, तुलसी या सूर इसी कसौटी पर महान कवि सिद्ध हुए हैं । अत: किसी भविष्यवक्ता की भांति यह कहने की कोई सार्थकता नहीं कि आज की कविता का कौन सा अंश-दीर्घजीवी होगा । परन्तु जो भी कसौटी तात्कालिक रूप से हमें एक श्रेष्ठ काव्य की पहचान कराती है । वह यही है कि किसी कवि की संस्कारिता उसकी काव्यानुभूति और काव्यभाषा को किस सीमा तक जोड़ पाती है और उस जोड़ में वर्तमान की किस सीमा तक संगति एवं सार्थकता बैठती है और भविष्य को कितनी दूर तक आत्मसात किया जा सका है । नरेश मेहता निश्चय ही इस दृष्टि से एक विशिष्ट रचनाकार हैं ।

::::::::::::

तृतीय अध्याय

* नरेश मेहता के काव्य-विकास में भारतीय संस्कृति के तत्वों की तलाश

सामान्यतः प्रयोगवादी एवं कविता के कवियों के विषय में यह कहा जाता है कि वे परम्पराओं को तोड़ने हैं और नूतन प्रयोग करते हैं । इस प्रक्रिया में वे संस्कृति, धर्म तथा ऐतिहासिक दाय को उपेक्षित कर देते हैं, भुला देते हैं किन्तु ध्यातव्य है कि कुछ नए कवि ऐसे भी हैं जिनके काव्य में परम्परा की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं तो उतनी ही जुड़ती भी हैं । ऐसे नए कवियों में नरेश मेहता, अज्ञेय, लक्ष्मीकान्त वर्मा एवं कुंवर नारायण आदि का नाम उल्लेख्य है । इन सभी कवियों में संस्कृति का बोध * है ।

इन प्रयोग-धर्मी अथवा नये कवियों में श्री नरेश मेहता का सांस्कृतिक बोध सर्वोपरि है । उनके काव्य में संस्कृति के तत्वों की सम्यक् तलाश * है । यह संस्कृतिबोध निम्न उनके काव्य में मुखरित हुआ है -

(1) सांस्कृतिक -बोध का प्रथम आयाम वैदिक वातावरण के चित्रण से सम्बद्ध है ।

(2) दूसरा आयाम प्राकृतिक चित्रों के अलंकरण के लिए प्रतीक अथवा उपमान व रूप में प्रयुक्त उपकरणों से व्यंजित होता है ।

(3) तीसरा आयाम कवि की चेतना में प्रतिबिम्बित होता है ।

(4) चौथा आयाम उदात्त मानव-मूल्यों के तर्क-वितर्क के पश्चात् दिए गए निष्कर्षों में समाविष्ट है ।

(5) पाँचवाँ आयाम व्यक्ति स्वातन्त्र्य की अस्मिता में मुखरित है ।

अब, हम कवि के इस सांस्कृतिक-बोध को उसके काव्य-विकास की क्रमिक श्रृंखला में व्याख्यायित करते हैं -

' दूसरा सप्तक ' और कवि का सांस्कृतिक-बोध :

मेहता जी की प्रारंभिक कविताएँ राष्ट्र भारती '; आजकल ' तथा ' नई कविता ' नामक प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई । ' दूसरा सप्तक ' में समाविष्ट होने पर वे प्रतिष्ठित कवियों की पंक्ति में आसीन हुए । इस दूसरे सप्तक के अपने ' वक्तव्य ' में उन्होंने स्वयं लिखा है -' सन् 36 से 50 ई० तक बराबर लिखता रहा । वर्षा ऋतु की धूम की तरह मेरी कविताएं प्रकाशित हुई हैं । + + + पिछली अपनी छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओं को मैं कविता नहीं मानता ।'[1]

काव्य-रचना के क्षेत्र में उनके नव कविता संकलन (दूसरा सप्तक सहित) तथा चार खण्ड काव्य है ।

' दूसरा सप्तक ' में संकलित कविताओं में पहली कविता ' चाहता मन ' है । इस कविता में एक ओर तो प्रकृति का आलंकारिक एवं मानवीकृत रूप है , तो दूसरी ओर प्रेम का सहज निश्चल और विश्वसनीय रूप भी मुखरित हो सका है । यह कविता एक नितान्त वैयक्तिक अनुभूति ,छायावादी तरलता और उच्छ्वास लेकर कवि के मन की एक मधुर सी कामना को अभिव्यक्ति देती है । इसमें नवीन प्रयोगों, नूतन उपमाओं एवं उर्वरा कल्पना का सुन्दर समाहार हुआ है । प्रिया से शरद की दुपहरी में मिलन की मधुर स्मृतियाँ साकार हो उठती हैं । कवि का मन चिकने चीड़ सी बाहोंवाली और ' सेब सी लाल ' प्रिया के सामीप्य के लिए ललक उठता है । परन्तु ग्रीष्म की प्रचण्ड लू एवं वियोग की मनःस्थिति में यह मनो लालसा कैसे पूरी हो सकती है --

' चाहता मन,
तुम यहाँ बैठी रहो,
उड़ता रहे चिड़ियों सरीखा वह तुम्हारा श्वेत आँचल ।।
किन्तु अब तो ग्रीष्म,
तुम भी दूर और ये लू ।।'[2]

1- दूसरा सप्तक - सं० अज्ञेय,पृष्ठ 120- 121

प्रेम-परक कवि की इस मनोकामना में भी भारतीय संस्कृति के प्रति उसका ममत्व मुखरित है । इसी कारण ` गोमती तट `, ` धोबियों की हाँक `, ` श्वेत आँचल `, ` ग्रीष्म `, ` लू ` शरद दुपहर ` आदि का उल्लेख हुआ है ।

प्रात:काल का सुन्दर रुपक प्रस्तुत करनेवाली एक उत्कृष्ट रचना है । ` किरण धेनुएं `। इसमें प्रभात रूपी ग्वाला उदयाचल से किरण रूपी धेनुओं को हाँकता हुआ पृथ्वी पर लाता है जो अन्धकार को चरती हुई स्वर्ण सींगों को चमकाकर आलोक रूपी दूध को बरसाती है । इस प्रभात-वर्णन के साथ ही कृषकों का कर्मठता तथा नव-जीवन की सक्रियता चारों ओर दिखाई देती है । प्रभात को ` अहीर ` एवं वसुधा को ग्वालिन कहा गया है । उर्वरा कल्पना तथा मानवीकरण दर्शनीय है -

` बरस रहा आलोक दूध है,
खेतों खलिहानों में,
जीवन की नव किरण फूटती
मक्ई के धानों में
सरिताओं में सोम दुह रहा वह अहीर मतवाला ।।`[1]

उक्त कविता में भारतीय सांस्कृतिक परिवेश एवं वैदिक वातावरण प्रतिबिम्बित है । मेहता जी के काव्य में सांस्कृतिक प्रतीक ,बिम्ब एवं उपमान पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । यहाँ पर ` सोम ` आदि सांस्कृतिक शब्द हैं । उल्लिखित शब्दावली में कवि का सांस्कृतिक राग-बोध विवादित हो रहा है । अपने खेतों खलिहानों के प्रति कवि का ममत्व है ।

` दूसरा सप्तक ` में मेहता जी की ` उच्छ्वास ` शीर्षक से चार कविताएं संकलित है । यद्यपि ये कविताऐं प्रकृति- सौन्दर्यात्मक छायावादी शैली की आभास दिलाती हैं, फिर भी इनमें लोक जीवन की हल्की सी झांकी प्रस्तुत करता हुआ कवि जीवन के प्रति आस्थावान है --

` भिनसारे में चक्की के संग,
फैल रही गीतों की किरणें

1- दूसरा सप्तक, पृष्ठ 112

पास हृदय छाया लेटी है,

देख रही मोती के सपने,

गीत न टूटे जीवन का यह कंगन बोल रहे ।'[1]

' उषस् ' 2,3 तथा 4 में वह ' मुनि-कन्यासी ' उषा, हिमालय के आंगन में स्वर्ण बरसाती हुई, कुंकुम में डूबी, चम्पक बाहों से क्रीड़ायें करती हुई, लाल आंचल को पृथ्वी पर बिखराती, उस स्वर्णिम प्रकाश में विहग शिशुओं के कोमल कंठों से मधुर श्लोक फूटते हैं । अंधकार पर उषा की अरुणिम विजय पताका मानों पुकार कर कहती है कि मानव-जीवन स्वस्थ बने -

' तिमिर दैत्य के नील दुर्ग पर,

फहराया तुमने केतन

परिपन्थी पर हमें विजय दो,

स्वस्थ बने मानव जीवन ।।'[2]

' उषस् ' शीर्षक चारों कविताओं में सांस्कृतिक बोध से पूर्ण कवि का मानस दमयन्ती, राधा, कंगन, चन्दन, रोली, सिन्दूर, हिमालय, ऋचा-गायन, तोरण वन्दनवार, इन्द्र, दिक्पाल, पूषा, वरुणदेव, अलका-नंदा, यक्ष-पत्नियों के गीत आदि का उल्लेख करता है । मेहता जी के प्रकृति-चित्रण में कई बार वैदिक सांस्कृतिक वातावरण झांकने लगता है । इसके पीछे कवि की आर्ष-दृष्टि है, संस्कृति के प्रति उसका ममत्व है । कतिपय पंक्तियां देखिए जिनमें वैदिक वातावरण के सहारे कवि ने अपने सांस्कृतिक बोध को व्यक्त किया है --

' प्राची के दिक्पाल इन्द्र ने,

छिटका सोने का आलोक ।

विहगों के शिशु गन्धर्वों के

कंठों से फूटे श्लोक ।।

वसुधा करने लगी मंत्र से वासन्ती रथ का आह्वान ।।'[3]

1- दूसरा सप्तक, पृष्ठ 113

2- दूसरा सप्तक, पृष्ठ

कवि की चेतना में सांस्कृतिक-बोध, वैदिक एवं औपनिषदिक सन्दर्भ इतने अधिक हैं कि लगता है जैसे कवि में व्यक्तित्व की पहचान ही यही है। भारत की पावन-धारत्री कवि को " माँ " प्रतीत होती है। देवदारु के वृक्षों की लम्बाई उसे उपनिषदीय विराटता का आभास देती है। मेहता जी में जो मूल्य-बोध, जीवन-बोध एवं प्रकृति बोध है, उन सब में एक विशिष्ट गरिमा, पावनता एवं शुभ्रतापूर्ण संतुलन का आधार कवि की सांस्कृतिक चेतना ही है।

" उषास " के बाद दूसरे सप्तक में " चरैवेति " कविता है। हमारी भारतीय संस्कृति का औपनिषदिक उद्घोष है -" चरैवेति चरैवेति " अर्थात् आगे की ओर चलते चलो, चलते चलो, वही इस कविता में मुखरित है। इस कविता में सूर्य की तरह नित्य गतिशील बने रहने का शाश्वत संदेश है। तम के बंधनों को सूर्य ने मुक्त किया है, उसी तरह व्यक्ति भी उन्मुक्त होकर समय के साथ-साथ आगे बढ़े। गतिशील नदियाँ ही सागर का रूप ग्रहण करती है और आकाश में विचरण करनेवाले मेघ ही धरती को अंकुर देते हैं --

" नदियों ने चलकर ही,
सागर का रूप लिया।
मेघों ने चलकर ही,
धरती को गर्भ दिया।।"

अस्तु, युगानुकूल गतिशीलता अनिवार्य है। यही इस कविता का निष्कर्ष है।" चरैवेति " हमारा वैदिक औपनिषदिक एवं सांस्कृतिक उद्घोष है। वही इस कविता का कथ्य एवं तथ्य है।

दूसरे सप्तक में संगृहीत सब से उल्लेखनीय एवं लम्बी कविता " समय देवता " है। इस कविता के द्वारा कवि संपूर्ण विश्व के कोण में स्थित विभिन्न राष्ट्रों का परिचय देता हुआ कहता है कि " समय-देवता " सर्वोच्च अमोघ शक्ति है। कवि ने पहले दूर से घूमती हुई पृथ्वी का चित्र, फिर टुण्ड्रा के एक एस्कीमों की हड्डी की गाड़ी को असुर बर्फ के सीने पर खींचने की बात, फिर

यौवन-भूमि सोवियत देश के आधार पर श्रम की पूजा के महत्व को दर्शाते हुए साम्राज्यवाद की स्थापना का नारा लगाया है । अपने भारतदेश का ही नहीं, अपितु चीन,जापान एवं अमेरिका आदि सभी शक्तिशाली देशों का वर्णन कवि ने इस कविता में किया है । सम-सामयिक विश्व का इतने विशाल फलक पर विस्तृत सुन्दर, स्वस्थ एवं भावपूर्ण अलंकृत चित्रण हिन्दी साहित्य में निरुपम है । अन्त में, कवि ने विश्व युद्धोत्तर विकसित विभिन्न विभिषिकाओं और विसंगतियों असंगतियों की ओर संकेत करते हुए स्वस्थ एवं नयी मानवता के विकास की मंगलमय कामना व्यक्त करते हुए लिखा है --

" सम्य देवता । आज बिदा लो,
किन्तु तुम्हारे रेशम के इस चमक वस्त्र में,
मिट्टी का विश्वास बांधकर भेज रहा हूं ।
मेरी धरती पुष्पवती है,
और मनुज के पेशानी की चरागाह पर,
दाड़ रही है तूफानों की नयी हवाएं ।।"[1]

उक्त कविता में हमारा वैदिक एवं सांस्कृतिक राग-बोध " वसुधैव कुटुम्बकम् " तथा " सर्वेभवन्तु सुखिन: " प्रतिबिम्बित हुआ है ।

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि प्रयोगवादी एवं नए कवियों में सांस्कृतिक बोध, नए मानव-मूल्य-बोध एवं शिल्प के प्रति सजगता आदि सर्वतोमुखी दृष्टियों से कविवर नरेश मेहता दूसरे सप्तक में सर्वाधिक सशक्त कवि सिद्ध होते हैं ।

:::::::

1- दूसरा सप्तक, पृष्ठ 133

"वनपाखी सुनो"

"दूसरा सप्तक" के बाद स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित नरेश मेहता का प्रथम कविता संग्रह "वनपाखी सुनो" है। इसमें कुल 27 कविताएं संगृहीत हैं। इन समस्त कविताओं में प्रकृति के प्रति विशेष आकर्षण अभिव्यक्त हुआ है। अत: इस संग्रह को "प्रकृति-काव्य" कहा जा सकता है। इसमें प्रकृति के संदर्भों के बीच प्रेम जनित पीड़ा है। कवि विवश होकर अपनी पराजय स्वीकार करता है। कविवर मुक्तिबोध का कथन है कि "उन्होंने (मेहता जी ने) प्रकृति-सौन्दर्य को वैदिक संस्कृति की आँखों से देखा और उसके भव्य उदात्त चित्र खड़े किए।"[1]

मेहता जी की मानवीय दृष्टि उनके अधीर मन से पीड़ा सहन करने की प्रार्थना करती है क्योंकि पीड़ा मन की आत्मजा है, वह सब से बड़ा दान है सृष्टि का। उसे कल्पवृक्ष जैसा मानकर ही सब कुछ पाया जा सकता है -

"सृष्टि पीड़ा है। कल्पवृक्ष-
दान समझ, शीश झुका। स्वीकारो -
ओ मन करपात्री। मधुकरि स्वीकारो।।
वहन करो, सहन करो,
ओ मन। वरण करो पीड़ा।।"[2]

उपर्युक्त कविता में "कल्पवृक्ष", "दान", "करपात्री", "मधुकरि" आदि शब्द कवि की सांस्कृतिक दृष्टि के द्योतक हैं। वैदिक एवं सांस्कृतिक शब्दावली के - प्रयोग के माध्यम से कवि की संस्कृतिपरक ममता मुखरित हुई है।

कवि की दृष्टि में आज के ये दु:ख, संघर्ष, आघात, पथ, यात्रायें आदि सब देव कृपायें हैं। इन्हीं से अंधेरे मस्तक पर उदयाचल होगा।

1- नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - मुक्तिबोध, पृष्ठ 37
2- "वनपाखी सुनो", पृष्ठ 30

यह मानवीय दुःख ही व्यष्टिगत तथा समष्टिगत स्तर पर गीत का मूलाधार है । नए कवि नरेश मेहता प्रयोगवादी कवि की अतिवैयक्तिकता एवं अहं निष्ठता से ऊपर उठकर जन-सामान्य की वकालत करते हैं । उसके एकान्त -बोध में सब सम्मिलित हैं --

" वह समर्पित एकान्त
सब का कर्म
सब का धर्म,
सब का स्वत्व है ।
मैंने इसे निर्माल्यवत् ही,
स्वीकारा प्रभु ।।"[1]

ऊपर लिखित कविता में " निर्माल्य " " प्रभु " " धर्म " " कर्म " आदि शब्दों में भारतीय संस्कृति की अनुगूंज है । कवि की सारी सर्जना एवं रचना प्रक्रिया की आधार शिला भारतीय संस्कृति का राग तत्व है ।

" वन पाखी सुनो " संग्रह की विभिन्न कविताओं में प्रकृति-वर्णन के उपमान, प्रतीक बिम्बों में ही नहीं, मेहता जी अपनी चिन्तना में भी सांस्कृतिक -बोध के पर्याप्त निकट है । जब " स्वर्ग राजा मेघ पाहुन द्वारा आते हैं, तब कवि अपने खेत और आंगन की चिन्ता नहीं करता बल्कि पुरजनों के खेतों, पोखरों को अमृत की आकांक्षा करता है । धरा को तीर्थ करने और मानव-मुक्ति की याचना करता है --

" कुल-देवता कुल अम्बिका से,
पुर जनों के खेत पोखर जहां फैले
चलो अमृत करो ठाकुर ।
इस सहज परिवार की
अपनी कृपायें व्याह दो,
मनुज के सम्बन्ध से सब स्वर्ग है,
छू जिसे पाथर अहिल्या तक हुए ।।"[2]

1- मेरा समर्पित एकान्त, पृष्ठ 24

2- वन पाखी सुनो -" मेघपाहुन द्वार ", पृष्ठ 42

उल्लिखित कविता में कवि का सांस्कृतिक राग बोध झलक पड़ा है । इसमें " कुल देवता " " अम्बिका ", " अहिल्या " आदि पौराणिक शब्दावली कवि के सांस्कृतिक बोध के परिचायक है । कवि की कल्पना-पतंग उत्तुंग गगन में चाहे जितनी दूर उड़े, किन्तु पतंग की डोरी सांस्कृतिक लट्टू (लटाई) में ही बंधी रहती है ।

" मेघ में " एक विशिष्ट कोटि की जीवन्त रचना है जिसमें प्रकृति मानवीय आस्था तथा धरती की हलचल एक साथ व्याख्यायित हुई है । हरिया-मेघ तन-मन में विद्युत छिपाए दूब को बूंदों का मुकुट बांध देता है और नदी की लहरों की जल कन्याओं के साथ निर्जन कुंजों में परिभ्रमण करता है । धीवर-पत्नी अपने " मनु " की कुशलता के लिए बांस की पिटारी में दीपक रखकर नारियल की डोरी से चढ़ाती है और धीवर भी अपनी " श्रद्धा " के लिए उस पार तट से हाथों से मुख को ढककर पुकारता है । मेघ कहता है कि मेरे अन्दर " तीर्थों का जल " है और रात को " वरुणा " की नील महल में " पूषा " ने मुझे " सोमरस " पिलाया है --

" मुझमें तीर्थों का जल विचरण करता आया,
रात वरुण के नील महल में पूषा ने था सोम पिलाया -
क्या मैंने ही सोम पिया ?
ताड़ तुम्हारी शाखों पर हम नहीं रुकेंगे
इन मंडराती चीलों से कह दो हट जाएं ।। "[1]

उपरिलिखित कविता में " तीर्थों का जल ", " वरुणा ", " पूषा ", " सोम " आदि शब्द भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध है । इन शब्दों के प्रयोग का मूलोद्देश्य कवि व सांस्कृतिक राग है । कवि का अपनी संस्कृति के प्रति असीम ममत्व है ।

आषाढ़ी प्रथम वर्षा की फुहार को बैलो ने " शिवा " (पार्वती) समझकर नन्दी के समान अपनी पीठ बढ़ा दी --

" बैलों ने पहली फुहार की शिवा समझकर,
नन्दी - सी निज पीठ बढ़ा दी । "[2]

1- " वन पाखी सुनो " मेघ में - पृष्ठ 27
2- वन पाखी सुनो, मेघ में, पृ० 29

उक्त कविता में " शिवा "," बैल " तथा " नन्दी " आदि शब्दों के माध्यम से कवि के मानस में भरा हुआ सांस्कृतिक बोध व्यक्त हो उठा है ।

" वन पाखी सुनो " संग्रह में संगृहीत " प्रार्थना "," तीर्थजल ", " समय का भिक्षु ", मालवी फाल्गुन आदि कविताओं में कविवर नरेश मेहता का सांस्कृतिक -बोध स्पष्टत: परिलक्षित होता है ।" समय का भिक्षु " कविता में कवि का सांस्कृतिक-बोध दृष्टव्य है --

" द्वार पर भिक्षुक पुकारा एक -
आज है " एकादशी " माँ ! कुछ मिलें की टेक । "[1]

निष्कर्ष : इस प्रकार " वन पाखी सुनो " कविता-संग्रह की अधिकांश कविताओं में कवि का सांस्कृतिक बोध मुखरित हुआ है । सचमुच कवि ने प्रकृति चित्रण को संस्कृति की आँखों से देखा है । कवि ने अपने " प्रकृति-चित्रण " को भारतीय संस्कृति का परिधान पहनाकर उसे " पीताम्बरा " रूप में समलंकृत किया है । वैदिक, औपनिषदिक एवं पौराणिक प्रतीकों, उपमानों एवं शब्दावली का प्रयोग इसका अकाट्य प्रमाण है ।

(2) " बोलने दो चीड़ को "

मेहता जी का दूसरा कविता-संग्रह " बोलने दो चीड़ को " है । इसमें कुल 37 कविताएं हैं । इसमें भी " प्रकृति चित्रण " की प्रधानता है । इसमें कवि की संवेदना विचार, शिल्प एवं सौन्दर्य बोध की दृष्टि से जहाँ एक ओर परम्परा से जुड़ी हुई है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक - बोध (नवीनीकरण) भी पर्याप्त उभरा है ।" वनपाखी सुनो " जहाँ प्रकृति चेतना का ही काव्य था, वहाँ आलोच्य संग्रह जीवन की विविध भावानुभूतियों तथा ठोस वैचारिकता से सम्पृक्त है ।

इस संग्रह की कविताओं में कोई विशेष जटिलता या उलझन नहीं है। इनमें पर्याप्त सहजता मिलती है ।" चाहता मन "," रक्तहस्ताक्षर

1- वन पाखी सुनो ," समय का भिक्षु ", पृष्ठ 24

" बोलने दो चीड़ को ", " अनुनय ", " सीतापवी दिन ", " दिनान्त की राजमेंट ", " एकान्त भविष्य लगता है ", और " सन्दर्भ भटकी यात्रायें " - इस संग्रह की उत्कृष्ट रचनायें हैं । वर्ण्य-विषय या प्रतिपाद्य की दृष्टि से प्रकृति -प्रेम वेदना जीवन की विसंगतियाँ एवं विचार तथा भाव का सम्मिलन - आलोच्य कविताओं में परिलक्षित होता है । शैली की दृष्टि से " रीतिवादी " शैली की छाप है । इस सन्दर्भ में डा० हरिचरण शर्मा का कथन सत्यता के पर्याप्त निकट लगता है कि " यद्यपि कवि पर रीतिवादी शैली की छाप है ,किन्तु अनुभूति की आत्मीयता में वह खो जाती है । नरेश की कल्पना शक्ति बड़ी सजग है । यों नरेश पर कोई " लेबिल " नहीं लगाया जा सकता किन्तु यदि आवश्यक ही हो तो उन्हें रोमानी भावनाओं का ऐसा यथार्थवादी कवि कहा जा सकता है, जो सौन्दर्य छवियों के एल्बम में यदा-कदा व्यंग्य-विद्रूप एवं जीवन की विसंगतियों के चित्र भी बना देता है ।"[1]

प्रकृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण पवित्र,उदात्त और सांस्कृतिक बोध से मण्डित है । जैसे अज्ञेय अपनी संपूर्ण काव्य-यात्रा में आस्था का अशेष सम्बल लिए हुए चलते रहे, उसी प्रकार मेहता जी आशा-आकांक्षा एवं सांस्कृतिक गरिमा संजोये हुए हैं । कवि के व्यक्तित्व में एक उदात्त संकल्प है, वह कहता है -

" पुत्र मेरे
हमारा मनु ही पृथक् है
अपने वंश में गौतम नहीं होता
अपनी विवशता के स्वत्व की भिक्षा
अन्य को देकर न तुम छोटे कहाना ।।"[2]

उल्लिखित कविता में " मनु " " गौतम " शब्दों में कवि की सांस्कृतिक अवधारणा दृष्टिगोचर होती है । कवि अपनी भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही काव्य की वैचारिकता का विशिष्ट भवन प्रतिष्ठित करता है ।" बोलने दो चीड़ को "

1-" बोलने दो चीड़ को ",पृष्ठ 44

2- डा० हरिचरण शर्मा -

संग्रह की " अनुनय " नामक कविता में उनका समाज के प्रति (यांत्रिक समाज के प्रति) विद्रोह अभिव्यक्त हुआ है । यांत्रिक समाज ने तथा सामाजिक प्रतिबन्धों ने उनके व्यक्तित्व को छीन लिया है । अपने उस व्यक्तित्व को कवि एक " मूल्य " समझता है और पुन: उपलब्ध करना चाहता है —

" हम सब अपने अपने नाम खोज निकालें,
भीड़ की असावधानियों से जो कुचले गए हैं
क्योंकि वे मूल्य हैं
अपने को जानने के लिए-कि
हम कब लोग होते हैं,
और कब नहीं ।।"[1]

कवि का " मूल्य-बोध " उसके सांस्कृतिक -बोध का ही परिचायक है । हमारी भारतीय संस्कृति मूल्य वादी है । मूल्यवत्ता ही संस्कृति का प्राणतत्व है ।

" बोलने दो चीड़ को " संग्रह की विविध कविताएं " प्रकृति वर्णन " से संबंधित हैं । " मनुष्य " भी इस विराट प्रकृति का एक अंग है । अत: प्रकृति के अंचल में ही विशिष्ट वैदिक सांस्कृतिक शब्दों जैसे हलद सरसों, हस्ति नक्षत्र, ऐरावत, अप्सरा, वसन्ती, सोनपर्वो, प्रतिश्रुतबन्धु और कृपा-पाशित आदि के माध्यम से कवि का सांस्कृतिक बोध अभिव्यक्त हुआ है । वस्तुत: अपने को अनेक रूपों और नाना रूपों में व्यक्त करने का संकल्प ही औपनिषदीय चेतना है । इसी को प्रकारान्तर से हम " सांस्कृतिक " चेतना " भी कह सकते हैं ।

:::

1-" बोलने दो चीड़ को " (अनुनय) पृष्ठ 58 ।

" तुम मेरा मौन हो "

प्रस्तुत कविता संग्रह में कुल 47 कविताएं संग्रहीत हैं । इसमें " वैयक्तिक - वैष्णवता " की कविताएं हैं । कवि ने इस कविता की भूमिका में लिखा है कि -- " यह प्रेम- कविताओं का संकलन है । + + + यदि कहूं कि ये मेरे एकान्त मनस के राग-भाव की ऐसी स्वीकृतियां हैं, जो देश और काल की देहरी लांघती लाल एड़ियों सी दिखती है । अहोरात्र कभी बांसी सी बजती हैं तो कभी हठात केश खोले उपस्थित हो जाती है । कविता ऐसी मध्यकालीन माधवता के साथ मेरे निकट आयेगी, ऐसी कभी कल्पना भी नहीं थी ।"[1]

काव्योत्सव की इन कविताओं ने कभी कवि को " मेघदूत " के यक्ष सी आकुलता दी, तो कभी अपने " गीत गोविन्द वाले निभृत परिरम्भण में विरोहित कर दिया, तो कभी सामने बैठाकर " भ्रमरगीत " वाले उपालम्भों में कदम्ब ही बना दिया । सृजन की उदात्तता के लिए कवि को स्वयं कविता बन जाना पड़ा है ।

संस्कृति के पहचान के अनेक माध्यम होते हैं और हैं भी । आज भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम गायकों में नरेश जी का नाम लिया जा सकता है । उन्होंने भारतीय संस्कृति के मूल उद्गमों को खोजने, उसमें बीच-बीच में आईं विकृतियों और दोषों को पहचानने और उससे बचने के साथ-साथ संस्कृति के उदात्तीकरण का जो एक विराट कवि-सुलभ प्रयास किया है, वह सर्वप्रकारेण श्लाघनीय है । भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में मेहता जी का कथन है कि -" जातीय ऊर्ध्वता की अस्मिता की वाहिका धर्मदृष्टि हुआ करती है । मैं पुनः स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि धर्म से तात्पर्य किसी मठ, सम्प्रदाय या संस्थान से

1- तुम मेरा मौन थे - भूमिका ~~कम~~ , पृष्ठ 1

नहीं है । धर्म प्रकृति की भांति उदार और असंग होता है । काव्य और साहित्य के लिए मैं इसी अस्मिता का पक्ष धर हूं ।[1] "

यहां पर उक्त कथन से सुस्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति की शोध की नरेश जी की दृष्टि कतई अन्य परम्परावादी दृष्टि नहीं है । उनके विचार से हमारे देश में जो मिथक है, वे हमारी जातीय अस्मिता के गहरे स्रोत हैं । इसीलिए सांस्कृतिक बोध से प्रेरित होकर वे पौराणिक प्रतीकों शब्दों चरित्रों आदि का प्रयोग किया करते हैं ।

" तुम मेरा मौन हो " - संग्रह कविताओं के सन्दर्भ में मेहता जी का कथन है कि -" माधुर्य का यह आसव कभी सुगन्ध बनकर कभी कोई प्रसंग देता है, टेरता है या फिर हवा का बोध देकर परदों के घुंघुरुओं में बजकर बीत जाता है और मैं इन स्मरणों, मुद्राओं को स्तब्ध हो देखता रहता हूं, जैसे कोई इतिहास बोलने का प्रयत्न कर रहा हो, आसक्ति की मानसिकता में से ऐसे गुजरना जिसमें कविता आप घटित हो रही हो, न जाने कहा ले जाता है । स्वत्व का यह भटकाव कभी नदी का कोई अनस्पर्शित कूल होता है , तो कभी प्रिया के चौंकले थरथराते- मृगनेत्रों में किसी धार्मिक, सांस्कृतिक अनुष्ठान एवं गन्धर्व का सा आभास दिखाई देता है —

" मुझे उपकृत करो प्रिया ।
रोध की सी साधारण धूप धारण कर,
जैसे एक सादा सा दिन
गन्धर्व बना --
तुम्हारे आगमन की संभावना सी
विस्तर पर आ बैठता है,[2]
जैसे नेत्र अनुष्ठान हो । "

1- तुम मेरा मौन हो, भूमिका, पृष्ठ 1

2- तुम मेरा मौन हो, खुले केशों में, पृष्ठ 4

उक्त कविता में प्रेम की गहरी अन्विति को आत्मसात करने के लिए उनकी (नरेश जी की) संस्कृति -प्रिया समूची सृष्टि में या समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त उस विराट चेतना से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ती है । नरेश मेहता की सांस्कृतिक चेतना की सब से केन्द्रीयधारा उनकी " उदात्तता" की है । भारतीय संस्कृति और भारतीय चिन्तन का सब से महत्वपूर्ण पक्ष उसकी उदात्तता ही है । संकीर्णता प्रतिशोध, हिंसा जैसी भावनाओं से क्रमश: उठते चले जाना भारतीय संस्कृति से क्रमश: सम्पृक्त होते जाना है । डा० राम कमल राय के शब्दों में " उदात्तता ही उसे उस महा करुणा और विराट संवेदना की अनुभूति से संचित करती है, जहाँ सारा विश्व अपनी मांगलिक छवियों से उसे सम्मोहित करता है । माटी का माटीपन तो सभी देखते हैं परन्तु उसी माटी में कितनी कितनी वनस्पतियाँ उगती हैं ? कितने रूप, रंग और गन्धवाले फूल खिलते हैं, कितनी औषधियाँ अंकुरित होती हैं ? माटी की इस विपुल राशि भूत कल्याणी सुषमा से साक्षात्कार होने पर मनुष्य का हृदय किस भूमि पर अवस्थित होगा । + + + + नरेश मेहता की काव्य यात्रा हमें उस भूमि तक पहुँचाने की एक अनथक तपश्चर्या है, जहाँ पहुँचकर हमें स्रष्टा का यह कल्याणकारी महाभाव अपने में गहरे उतरते हुए अनुभूत होता है ।"[1]

कवि-वरेण्य नरेश मेहता" धूप "" बाँसी "," पूर्वावायु " और" संकोचवती दूब " तथा" भीगी धरती " में काव्य-बोध की विराटानुभूति करते हैं --

" व्यर्थ ही यह धूप
तुम्हारी देह की ऊष्णता का,
यह बाँसी
तुम्हारे कण्ठ की आकुलता का,
यह पूर्ण तुम्हारे उड़ उड़कर आते चीनांशुक का,
और यह भीगी धरती
.... तुम्हारे मन्थर चलने का बोध करवाती है ।।"[2]

1-" कविता की ऊर्ध्वयात्रा" - डा० राम कमल राय, पृष्ठ 61

2-" तुम मेरा मौन हो " (स्मरण-गन्ध) नरेश मेहता, पृ० 9

कवि की दृष्टि में यह विराट् प्रकृति -- उसकी कुंकमवर्णी तितलियाँ, माधवीलता आदि वैयक्तिक वैष्णवता ' का प्रतीक है । तितली का कुंकमी लाल वर्ण उसे अपनी काव्य-प्रिया के लाल अधरों जैसा, माधवीलता तितली के कोमल लाल पंख जैसी प्रतीत होती है -

' तुम्हारे अधरों की
यह कुंकुमवर्णी तितली
यह माधवी प्रजापति
अपने कोमल रक्त-पंख फैलाकर
मेरे सीने पर
कैसी निःशब्द बैठी हुई -
जैसे अधरों की पीड़ा के बाद
यह, वैयक्तिक वैष्णवता का प्रतीक है ।' [1]

कवि को ' धूप ' श्वेत मलमली वस्त्र धारण किए हुए गोल मुंडेर पर बैठी ' वनहंसिनी ' सी दिखाई पड़ती है । औपनिषदकी विशिष्टता में पहुंच कर कवि को ' जड़ ' भी ' चेतन-प्राणी ' के सदृश्य दृष्टिगोचर होने लगते हैं, तभी तो वह धूप को ' वन हंसिनी ' के रूप में देखता है --

धूप
हमारे पैरों के नीचे से निकल कर
लान पर के फैले
अपने मलमली वस्त्र समेट
फेंसिंग की गोल मुंडेर पर
फिसली बैठी हुई
वन हंसिनी सी हमें देख रही थी ।' [2]

निष्कर्ष : ' तुम मेरा मौन हो ' - संग्रह की कविताएं सचमुच प्रेम प्रधान ही हैं । इन्हें पढ़ने से पता चलता है कि इनमें प्रणयानुभूति ' एवं ' प्रणय व्यथा '

1-' तुम मेरा मौन हो '-(एक प्रतीक) पृष्ठ 19
2-' तुम मेरा मौन हो - (अधूरे वाक्यवाली धूप) ,पृ० 23

' उ त्स वा '

श्री नरेश मेहता के रोम-रोम में वैष्णवता वैदिकता एवं भारतीय संस्कृति के प्रति रागात्मकता के स्वर झंकृत होते रहते हैं । भारतीय संस्कृति के स्वरों की अनुगूंज उनकी सभी रचनाओं में उच्चरित होती हुई सुनाई पड़ती है । नरेश जी ने उत्सवा की भूमिका में अपने सांस्कृतिक बोध को स्पष्ट करते हुए ठीक ही लिखा है कि --

' व्यक्ति-विस्तार के बहुस्याम हो जाने की निष्पत्ति औपनिषदकता है, तो व्यक्ति समर्पण की निष्णात प्रतिश्रुति वैष्णवता है । एक में परम विराट हो जाने की निधि है तो दूसरे में एकान्त के सान्निध्य की तुष्टि । एक में ब्रह्माण्ड है, तो दूसरे में वृन्दावन ।' [1]

तात्पर्य यह है कि यदि उपनिषद पुरुषार्थभाव है तो वैष्णवता' कृष्णार्पण ' । उपनिषद में यदि अर्जुन का वर्चस्व है, तो वैष्णवता में अनुकम्पा की प्रशान्तता है । उपनिषद' अहं ब्रह्मास्मि ' का उद्घोष है, तो वैष्णवता' प्रभु ' । तुम चन्दन हम पानी' की एकात्मक आकुलता है । तत्वत: दोनों एक ही हैं। नरेश जी संपूर्ण सृष्टि को' सचेतन ' एवं' ब्रह्ममय ' मानते हैं । 'आकाश एक गामस्नेन (गायत्री मंत्र का जाप करनेवाला है । उषा एवं संध्या दोनों गायत्री मंत्र हैं । आकाश रूपी गायत्री मंत्र जापक मेधों का त्रिपुण्ड लगाता है।

नरेश जी का आलोच्य कृति में सांस्कृतिक बोध गहरा है । उन्होंने' पृथ्वी' को एक' भागवत - कथा' मान लिया । पृथ्वी रूपी भागवत-कथा दूर्वादल रूपी भाषा में लिखि हुई है । तात्पर्य यह है कि संपूर्ण पृथ्वी भागवत कथा के तुल्य पवित्र एवं ज्ञान-गर्भा है ।

1- उत्सवा - नरेश मेहता, पृष्ठ 19

श्री नरेश मेहता का सांस्कृतिक बोध उनकी काव्य-काया का "मेरुदण्ड" है जिस प्रकार मेरुदण्ड के बिना शरीर की संरचना संभव नहीं है उसी प्रकार बिना सांस्कृतिक संवेदना के उनके काव्य की सर्जना सम्भाव्य नहीं प्रतीत होती "उत्सवा" कविता-संग्रह में कुल छोटी बड़ी 27 कवितायें हैं । इस संग्रह की कविताओं में प्रकृति "धरती का काव्य संकलन बनकर पृथ्वी को स्वर्ग बनाने का एक" उत्सव " या अनुष्ठान सम्पन्न करती है । यथा --

"धरती के काव्य-संकलन जैसे
ये वन उपवन
साम्राज्ञियों के चीना शुकों से
ये धनखेत
कृष्ण आकुल गोपिका नेत्रों जैसे
ये श्यामल मेघ
वृन्दावनी सारंग सी
ये दक्षिणात्य हवायें
क्या कुछ भी तुम्हें अब आमंत्रित नहीं करते ?"[1]

प्रकृति के साथ तदाकारता ही "पूजा" है । सब कुछ इस पृथ्वी पर ही है, कहीं अन्यत्र ढूंढने की कोई ज़रुरत नहीं है । प्रकृति की इस लिपि को समझने की आवश्यकता है । यह सीधे हृदय में प्रवेश करती है और मन को अभिभूत करती है न भाष्य की ज़रुरत है, न व्याख्या की । "फूल पूजा का उपकरण नहीं" मनुष्य का" होना" है और उसकी पूर्णता है और" यह होना ही पूजा है । भाव यह है कि फूल परोपकारार्थ खिलता है, दूसरों को सुगन्धि देता है और उनका मनोरंजन करता है, दूसरों की शोभा बढ़ाता है । इसी प्रकार "मनुष्य होने" का अर्थ या उद्देश्य है दूसरों का उपकार करना, हित एवं कल्याण करना । यह उपदेश हमें फूल" देता है । कवि का कथन है —

1-"उत्सवा"- क्या कुछ भी नहीं", पृष्ठ 54

" जब भी फूल खिलता है

मुझे पूर्ण करता है

गन्ध -

अतिरिक्त कृपा है फूल की ।।"[1] नरेश जी की भाषा का स्वरूप और उनकी शब्दावली" आर्ष- चिन्तन की शब्दावली " है । जो पाठक इस शब्दावली से सुपरिचित है, वह नरेश जी के काव्य को अच्छी तरह समझ सकता है । जो उस सांस्कृतिकता से अपरिचित है, उसे नरेश जी का काव्य अजनबी, कृत्रिम और आरोपित लग सकता है । मेहता जी कहते हैं --

" आज का दिन

एक वृक्ष की भांति जिया,

और प्रथम बार वैष्णवी संपूर्णता जगी ।।"

वृक्ष की भांति जीने की परिकल्पना और वैष्णवी संपूर्णता की अनुभूति केवल शब्द का अर्थ जानने से नहीं होगी, न ही इन शब्दों को शब्द-कोश के माध्यम से जाननेवाला पाठक निहितार्थ तक पहुंच सकेगा । उपर्युक्त कविता का तात्पर्य यह है कि (1) वृक्ष अपनी फल-सम्पदा को परार्थ अर्पित किए हुए है । (2) अपनी पत्तियों की छाया में श्रान्त-क्लान्त पथिक को परम शान्ति प्रदान करनेवाला है और (3) अपनी अस्थियों (लकड़ियों) को दूसरों के लिए उष्मा देने का साधन समझनेवाला, वह समर्पणशील प्रतीक है जिसे भारतीय मेधा बार-बार" परोपकारी" रूप में पहचानती तथा मानती है । इसीलिए हमारे देश में " वृक्ष-पूजा " वैदिक परम्परा है। अस्तु कवि अनुभव करता है कि" आज का दिन उसने एक वृक्ष की भांति जिया अर्थात्" परोपकार " में पूरा दिन व्यतीत हुआ, तो उसके व्यक्तित्व में" संपूर्ण वैष्णवी " अनुभूति संचरित हुई ।" वैष्णवता " एक शब्द तो नहीं है, एक पूरी संस्कारिता है, पूरा जीवन - दर्शन है । जो पाठक इस पुराण-परम्परा से" विच्छिन्न है, उसके लिए" वैष्णवी संपूर्णता " को समझ पाना अतीव दुष्कर है ।

---

1 - उत्सवा "-" पूर्णता ", पृष्ठ 52

डा० मीरा श्रीवास्तव ने " उत्सवा " की कविताओं के वैशिष्ट्य को अनुरेखित करते हुए सर्वथा उचित ही लिखा है कि " - उत्सवा में " उसकी प्रत्येक कविता में रचना की हर पंक्ति में या तो एक विराट मधुर स्वर-लिपि बजती है, या पृथ्वी को स्वर्ग बनाने का छोटा-बड़ा अनुष्ठान संपन्न होता है । इस समय पृथ्वी मानव चेतना के जिस निकृष्टतम दौर से गुज़र रही है उसमें मानवीय सभ्यता और संस्कारों का न केवल बौनापन और बनावटीपन है, बल्कि " एक पिशाच संस्कृति " वामन डग भर कर तन, प्राण मन को नाप चुकी है ।[1]

नरेश मेहता का कवि केवल मनीषी नहीं, बल्कि वे केवल औपनिषादी शैव नहीं, वह रस झेलनेवाला, अथक लीला-विलासी वैष्णव भी है । शिव का वैष्णव बनना ही ठीक है । कवि ने प्रकृति में (सृष्टि में) धूर्जटी का लीला भाव देखा है । यायावर महाकाल ही वैष्णव बनकर धरती पर उतरा है । यह प्रकृति, यह धरित्री उसी का लीला भाव है ।-

> " महाकाल की इस यायावरी का यह कैसा लीला भाव है ?
> यह किसका लीला भाव है ? "[2]

प्राचीन अर्थ प्रतीकों का इतना सशक्त प्रयोग कवि ने किया है कि जिसे सहज ही आत्मसात करना संभव नहीं है । बार-बार जब ये प्रतीक मन में घुमड़ते हैं, जब हम अपने प्राचीन-साहित्य का गहराई से आलोड़न करते हैं, जब हम उसके विभिन्न सांस्कृतिक धरातलों पर विचरण कर लेते हैं, तभी जाकर इन प्रतीकों एवं बिम्बों को सही रूप में ग्रहण कर पाते हैं । " उत्सवा " की प्रत्येक कविता ऐसे ही " प्रतीकों " को अपनाती है -

> " पुरा कथाओं के बाघम्बर लपेटे,
> वह आग्नेय-नेत्री
> रुद्र -

1- आधुनिकता से आगे - नरेश मेहता - डा० मीरा श्रीवास्तव, पृष्ठ 75

2- " उत्सवा " - लीला भाव , पृष्ठ 100

सूर्यों पर लेटा हुआ
संहार का धूम पी रहा है
और सृष्टि का प्रकाश उगल रहा है ।
यह कैसा महा श्मशान का स्वर्गोत्सव है ।
शक्ति के महाशव सदा शिव का
यह कैसा लीला भाव है ?
यह किसका लीलाभाव है ? "

बिना आर्ष परम्परा से गहराई से परिचित पाठक, इन कविताओं की अर्थानुभूति भला कैसे कर सकता है ?" व्यक्तित्व की वृन्दावनता "," धरित्री की सरस्वती गन्धता " अग्नि की गैरिक करुणा," पीपल की वासुदेविक प्रकम्पिता " , " फूल की मन्त्रात्मकता "; रात और दिन के कृष्ण शुक्ल स्वर "; सूर्य की सुगन्ध", सावित्रियों का अरण्यरास "," कृष्ण आकुल गोपिका नेत्रों जैसे श्यामल मेघ " वृन्दावनी सारंग सी दाक्षिणात्य हवाये "," शतपथ ब्राह्मण जैसी नदियां ", " नदी-देहा गोपिकाएं "," प्रार्थना-अभिषेक " जैसे शब्द-समूहों के प्रयोगों से जो बिम्ब या अर्थ निर्मित होते हैं, उन्हें वही पाठक ग्रहण कर सकते हैं, जिनका इस देश के प्राचीन ग्रन्थों से, ऋषि परम्परा से और भारतीय चिन्तन-दृष्टि से गहरा परिचय हो । इसके अभाव में ये प्रयोग हमें कुछ भी नहीं दे पायेंगे ।

पृथ्वी के प्रति असीम श्रद्धा का अनुभव" वैष्णवता " है और इस वैष्णवता का धरती से गहरा लगाव है क्योंकि वह जीव की नारायणी-कवच है -

" मेरे लिए यह पृथिवी
दिशाओं पर जाकर समाप्त हो जानेवाली
मात्र धरित्री ही नहीं है
वरन् जीव मात्र की कवच
नारायणी है ।"

1-" उत्सवा "" आग्रह ", पृष्ठ 64

भावार्थ यह है कि यह पृथिवी कवि को दुर्गा-कवच के समान पुनीता एवं जीव मात्र की रक्षिका सी प्रतीत होती है । यहाँ पर " नारायणी कवच " प्रतीक है । इसका अर्थ है - देवी की तरह रक्षा करनेवाली " पावन-वस्तु ।

मेहता जी " फूल " को मन्त्रवत् मानते हैं । वे कहते हैं -

" जब भी कोई फूल
पैरों के नीचे आ जाता है
लगता है कोई मन्त्र दब गया है ।।"[1]

कवि इस पृथिवी में " शतपथ ब्राह्मण " की ऊर्जाविलता है या " पुरुष सूक्त " की आकुल प्रार्थना के अक्षर पढ़ता है --

" मैं नहीं जानता कि
यह पृथ्वी
सूक्त है या शिला लेख
+ + +
शतपथ नदियों वाली इस ब्राह्मणी को
उदार देवदारुओं की भाँति
तपस्या करते नहीं देखा ? "[2]

" धूप-कृष्णा" कविता में धूप कवि को प्रतिदिन पतिवस्त्र धारिणी वैष्णवी " (विष्णु भक्त स्त्री) सी लगती है । डा० मीरा श्रीवास्तव ने " धूप-कृष्णा" कविता पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि -" धूप कृष्णा हो सकती है - वर्ण का यह वैषम्य उसके विरोधाभास में वैष्णव अनुभूति को व्यक्त करता है, श्याम उज्ज्वलता के विपरीत उज्जवल श्यमता के अनुभव में । यह कृष्ण राधा भी है, कृष्ण भी । कविता के अन्त में यह " अद्वैत अनुभव" प्रभु-कृपा ,राधा कृपा बनकर " ठाकुर" बन जाता है । इसी ठाकुर का आह्वान देह वंशी में करने की स्पृहा इसे ही अंगों पर " कोमल गान्धार के रूप में " धारण करने की कामना इस कविता का प्राण है ।"

1- उत्सवा, " आग्रह ,पृष्ठ 64
2- उत्सवा ," वैष्णव-यात्रा, पृष्ठ 64
3- आधुनिकता से आगे" - नरेश मेहता , डा० मीरा श्रीवास्तव,पृ० 98

" फूल " वनस्पति मात्र की भाषा है और वन इसी भाषा (फूल की भाषा) में लिखा उपाख्यान है । उसे देखकर धूप को अनादि छन्द (प्रथम छन्द, अनुष्टुप, छन्द) में व्यक्त फूल की भाषा को कवि पढ़ना चाहता है

" धूप में
यह अनुष्टुप सा कौन खड़ा है ?
यह वनस्पति पुरुष
क्या केवल फूल ही है ?" [1]

धूप अनादि काल से है । अत: कवि ने उसे अनादि छन्द" अनुष्टुप " कहा है ।

उदात्त के स्तर पर उठा हुआ स्वत्व" अश्वत्थ "(पीपल) बन जाता है । लगता है कवि किसी ऊँचाई पर खड़ा होकर पुकार रहा है -

" मनुष्यों । मानवीय भाषा का उदात्त सम्बोधन ही, अश्वत्थ है ।"

अश्वत्थ के" कृष्ण-वैराट्य " की सुगन्ध, तुलसी की गंध से जुड़कर सब को महा संकीर्तन की प्रार्थना-पंक्तियाँ बना देती हैं । इसमें स्वत्व की दृष्टि से न अश्वत्थ बड़ा है और न तुलसी छोटी । सब बराबर है । अश्वत्थ में वैराट्य का शिवत्व है और" कदम्ब " में सुन्दरत्व का महाभाव है । शिव सुन्दर का युगपत् अनुभव कवि के" मानवीय सुगन्ध " की पहचान है --

" कृष्णगन्ध तुलसी जिसकी कण्ठी है,
और त्रियत्री विल्व-पत्र जिसकी आग्नेय-दृष्टि,
वह और कोई नहीं,
यह मानवीय महाभाव द्वारा किया गया रास ही कदम्ब होता है । "

यहाँ पर" त्रिपत्र विल्वपत्र " में शिव के त्रिनेत्र की कल्पना बिलकुल ठीक है । काम-दहन के बाद ही महारास का कदम्ब खिलता है ।

पृथिवी मूक भाव से सब को भाषा देती है । उसकी सब से प्रथम भाषा" प्रार्थनामय " बनकर मुखरित होती है । डा० मीरा श्रीवास्तव के शब्दों में - " यह प्रार्थना साकार होते - होते" पृथिवी एक भागवत कथा है "

1-" उत्सवा - फूल वनस्पति पुरुष ", पृष्ठ 89

में बदल जाती है । संपूर्ण पृथिवी में भागवत-कथा लिखी हुई कवि देखता है --
" दुर्बादल की भाषावली में " वनस्पति वस्त्रा पृथिवी में "मेघ स्नाता अरण्यानी "
में आकण्ठ वर्षाम्मिय हुए भोज पत्रों " में निर्गन पगदण्डी " में पड़े उद्धव हुए भोजपत्रों "
में निर्गन पगदण्डी " में पड़ेउद्धव के पद-चिन्हों में ग्रीष्म धरा, के तापसी श्यामा"
होने में, " नदियों की यात्राओं में, " कृष्ण-प्रिया " को देखने में आदि-आदि ।
वनस्पति का इतना भू-व्यापी उत्सव इस कविता में है । इस कथा की धारा
प्रवाहकता में दुर्धर वेग है --

> नदी - देह गोपिकाएं
> चीर के लिए ही तो
> सागर के परम-पुरुष तक जाती है । "[1]
>
> (पृ० 106, मीरा श्रीवास्तव)

निष्कर्ष -

इस प्रकार " उत्सवा " प्रकृति काव्य के क्षेत्र में एक बिलकुल अभिनव भूमि निर्मित करती है, जो रचनात्मकता का नया धर्म है, बुद्धि के ऊपर संशोधि का या सहज बोधि का । अवतरण की यह भाषा प्राय: सीधी बहुल स्थलों पर सादी ऋतु और कहीं-कहीं संश्लिष्ट बिम्बात्मक प्रतीकमयी किन्तु सर्वत्र अनुभव को आलोकित करती हुई व्यक्त है । यहां शब्द अपने साथ व्यंजक अर्थ सुसंगत तरीके से खोल देते हैं । उलझानेवाली विसंगतियां नहीं है ।

इस सन्दर्भ में डा० मीरा श्रीवास्तव का कथन है कि -
वर्णनात्मकता के साथ व्यंजकता को साधे हुए उत्सवा की काव्य भाषा साधारण में असाधारण को व्यंजित करती है । यह काम खतरे से भरा है और कहीं कहीं कवि खतरे से उबर भी नहीं पाता । लेकिन फिर भी वह अपने निजी तरीके से उससे जूझता है -- कभी पौराणिक रूपकों, कभी प्रतीकों या धर्म सन्दर्भों अथवा परिचित भाववाची संज्ञाओं के विशेषणों को धारण करते हुए, जैसे " उत्सव नक्षत्र " में या " लीला भाव " में । वैसे " उत्सवा " में भाषा का वैष्णव-संस्कार ही अधिक प्रबल है ।"[2]

1- उत्सवा फूल, वनस्पति - पुरुष पृथिवी एक भागवत कथा, पृ० 88

तात्पर्य यही है कि नरेश मेहता समकालीन रचनात्मकता से सर्वथा भिन्न भूमि और भिन्न दृष्टि से 'उत्सवा' में सृजनरत हुए हैं ।

नरेश जी की सर्वात्मकता मानसिकता 'मध्ययुगीन' है । यह मध्यकालीन मानसिकता उन्हें अपने समकालीन रचनाकारों से अलग करती है । आधुनिकता उनके लिए एक स्थिति है । स्थितियां परिवर्तनशील होती हैं । नरेश जी अपने समय में तो हैं, पर इस समय को देखने की उनकी अपनी दृष्टि है । अपने समय को पकड़ने- परखने के उनके 'अपने' निकष हैं और इस निकष से प्राप्त निष्कर्ष को व्यक्त करने के लिए 'भाषा भी उनकी अपनी' है । मध्ययुगीन मानसिकता उन्हें 'क्लासिकल भूमि' पर खड़ा कर देती है । मध्ययुगीन मानसिकता 'आस्था' और 'आस्तिकता' पर टिकी हुई है । आधुनिकता का आधार 'अनास्था' तथा 'नास्तिकता' है । यही मूल अन्तर है, मध्यकालीन रचनात्मकता और आधुनिक -रचना बोध में । इसी लिए नरेश मेहता की आधुनिकता अनास्था और नास्तिकता का निषेध करती है ।

अन्ततः हम यही कहना चाहते हैं कि 'उत्सवा' की कविताएं प्रकृति-काव्य होती हुई भी वैष्णवता की आस्तिक भूमि पर प्रतिष्ठित हैं । इन्हें देखकर ऐसा लगता है जैसे वैदिक ऋषि दृष्टि फिर से एक बार हिन्दी काव्य में आंख खोलने को उत्सुक है । कवि मेहता किसी शक्ति और संस्थापना का प्रार्थी नहीं, वह 'ऋषभ गान्धारवाली पीपल भाषा' का रचयिता है ।

::o::::::

" देखना एक दिन "

इस नव्यतर संकलन में कुल छोटी-छोटी 75 कविताएं संगृहीत हैं। यह संकलन" उत्सवा "" अरण्या"," महाप्रस्थान "," प्रवाद पर्व " आदि के बाद की रचना है। यह पूर्व संकलनों से कुछ अलग है। इस संकलन के" शीर्षबिन्ध " (भूमिका) में नरेश जी का कथन है कि -" देखना एक दिन " यदि पूर्व संकलनों से अलग लगते हैं जो कि कुछ तो लगते ही हैं, तो यह स्वरूपगत या मानकगत ही ज्यादा होगा। मैं किसी ऊर्ध्व से नीचे आकर धरती के ज्यादा निकट हुआ हूं या लग रहा हूं, ऐसा मानना वास्तविक नहीं होगा। वैसे इस भ्रम का कारण " अरण्या " संग्रह की" अरण्यानी से वापसी " नामक कविता से हो सकता है।"

कवि के कथन का मन्तव्य यही है कि ऊर्ध्व से नीचे (प्रकृति से धरती पर) आना- सृजनात्मकता के लिए इन दोनों सम्पुट स्थितियों का होना अनिवार्य है। प्रश्न, केवल प्राथमिकता का ही हुआ करता है। तात्पर्य यही है कि" देखना" एक दिन " संग्रह में कवि ने धरती को ही विशेष प्राथमिकता दी है। उनके काव्य की सृजनात्मक आधार-भूमि और मानसिकता तो सर्वत्र एक ही हैं।

कुछ भी हो," देखना एक दिन " संग्रह में निश्चय ही कवि धरती के अधिक निकट आ गया है। यद्यपि कवि इसे नकारता है। उनके समस्त काव्य में एक आभिजात्य, एक सांस्कृतिक-बोध और मानवतावादी दृष्टि का प्रसार दिखाई देता है। मेहता जी की प्रकृति चेतना में भी उनकी वैदिक तथा संस्कृति-परक दृष्टि की ही प्रधानता है। उनके काव्य में प्रकृति ,प्रेम, धर्म, संस्कृति, मानवतावाद मानव-मूल्य और जीवन की यथार्थ स्थितियों के विविध वर्णी बिम्ब सुलभ होते हैं।

आध्यात्मिक धरातल एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही मेहता जी की सारी कविताएं प्रतिष्ठित हैं। उदाहरण स्वरूप" देखना एक दिन " काव्य संग्रह की" पुरुषार्थ " कविता द्रष्टव्य है कवि कहता है —

' किए होंगे निश्चित ही
इन हाथों ने
भले बुरे कर्म
पर, क्या वह तेरी प्रेरणा नहीं थी ।'[1]

यहाँ पर कवि का मन्तव्य है कि जो कुछ मनुष्य शुभाशुभ करता है, वह परम-सत्ता की ही प्रेरणा से करता है । यहाँ पर अव्यक्त शक्ति, अन्तरात्मा अथवा परमात्मा की प्रेरक शक्ति में' आस्था ' कवि के सांस्कृतिक बोध एवं औपनिषदकीय विचारधारा का संकेतक है ।' गीता ' में श्रीकृष्ण भगवान् ने यही बात अर्जुन से कही है -

' प्राणिनां हृद्देशे तिष्ठाम्यहम् ' अर्थात् समस्त जीवों के हृदय में मैं स्थित रहता हूँ ।

इसी कविता में अन्त में कवि' उदात्त मानव-मूल्यों ' में घोर आस्था रखता हुआ कहता है --

' यदि ऐसा नहीं था,
सब कुछ मेरा ही था
तो फिर मुझे स्वीकार है
ये सब-
क्योंकि मेरे पुरुषार्थ हैं ।'

हमारे वैदिक एवं औपनिषदकीय साहित्य में' पुरुषार्थ-चतुष्टय ' अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की चर्चा की गयी है ।' पुरुषार्थ ' श्रेष्ठतम ' मानव-मूल्य ' है । कवि उसमें आस्थावान है ।

' देखना, एक दिन ' संग्रह की प्रमुख कविता ' देखना, एक दिन ' ही है क्योंकि कवि को यह कविता इतनी अधिक प्रिय लगी कि इसी के नाम पर उसने पूरे संग्रह का नाम रख दिया है । इस कविता का केन्द्रीय-भाव यह है कि इस पांच भौतिक जगत में - जो क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीर --

---

1-' देखना एक दिन - ' पुरुषार्थ ', पृष्ठ 11

इन पंच तत्वों से निर्मित हैं, यहाँ कोई भी तत्व नहीं रह जायेगा । सभी समाप्त हो जायेंगे किन्तु यह दिन- सब प्राणियों का पृथक्-पृथक् होगा । तात्पर्य यह है कि एक दिन सभी प्राणी मर जायेंगे । यहाँ पर कोई भी नहीं रह जायगा । यह स्थिति सब की होगी । अन्तर इतना ही है कि सभी एक दिन न मर कर अलग-अलग दिनों में मरेंगे । कवि का कथन है --

" देखना
एक दिन चुक जाएगा
यह सूर्य भी,
सूख जाएंगे सभी जल
एक दिन
हवा
चाहे मातरिश्वा हो
नाम को भी नहीं होगी
एक दिन ।
नहीं होगी अग्नि कोई
और कैसी ही,
और उस दिन
नहीं होगी मृत्तिका भी । "

(देखना एक दिन - पृष्ठ 10)

हमारे वैदिक साहित्य में वेदान्त, उपनिषदों आदि में जीवन एवं जगत की नश्वरता वर्णित है ।" श्रीमद्भागवत गीता" में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है -" जातहि ध्रुव मृत्यु: " अर्थात् उत्पन्न हुए जीव की मृत्यु सुनिश्चित है । सांख्य शास्त्र " में कुल 25 तत्व वर्णित है । उन्हीं में प्रथम " पंच तत्व " है, जिनसे जीवों की शरीर की संरचना हुई है । यहाँ पर कवि भारतीय वैदिक दर्शन से प्रभावित है । यही कवि का" वैदिक सांस्कृतिक बोध " है, जो आलोच्य कविता का मेरुदण्ड है ।

इसी संग्रह की " कहा हुआ " कविता में कवि का " सांस्कृतिक बोध पूर्णत: मुखरित हुआ है । हमारे " भारतीय दर्शनों " में चाहे वह वेद, उपनिषद्, वेदान्त, गीता आदि कोई भी हो - सब में उस " संसार " को " विदेश " सराय " आदि के सदृश कहा गया है । जैसे कोई पथिक या बटोही थोड़ी देर के लिए किसी " सराय " में आकर विश्राम करके पुन: अपने गन्तव्य स्थान को चला जाता है वैसे ही मनुष्य इस संसार में आकर थोड़े समय तक रहकर चला जाता है । कवि जोर देकर कहता है कि " सराय " सराय ही है, वह किसी का अपना " निवास गृह " नहीं है । अत: संसार रूपी सराय में रुकना, किसी का रहना नहीं कहा जा सकता है --

" मन से, तन से
चलो बटोही ?
इस सराय में रहना कहा हुआ ? "

(देखना, एक दिन, पृष्ठ 12)

कवि ने इस " मानव-शरीर " का प्रतीक " कथरी " को माना है जिस प्रकार " कथरी " अनेक तागों से गुंथी रहती है, उसी प्रकार मानव शरीर अनेक, सम्बन्धों एवं रिश्तों से अनुस्यूत (गुंथी) है --

" किसे दिखाते -
कितने पैबन्दोवाली थी अपनी कथरी "

(वही, पृष्ठ 12)

राजा भरथरी (भर्तृहरि) पहले भोग-विलास एवं रागानन्द में निमग्न थे किन्तु बाद में उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने समग्र राज वैभव का त्याग करके वैराग्य या सन्यास ले लिया । कवि के " भरथरी " शब्द के द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रति उसका अपार लगाव प्रकट होता है --

" राग और वैराग्य बीच हम
होते गए विवश भरथरी । "

(देखना एक दिन, पृष्ठ 12)

भारतीय-दर्शनों में आत्मा को अनासक्त एवं निर्लिप्त-अमर कहा गया है । कवि के विचारों पर वही भारतीय संस्कृति की अमिट छाप " उस दिन " शीर्षक कविता में मुखरित हुई है --

" उस दिन
हाँ, उस दिन ही सही,
पर जायेगा
अन्तर विराजा अवधूत वह
जिसे लेता कुछ भी नहीं है
किसी से भी नहीं -
केवल देना, देना, देना ।"

(देखना एक दिन-" उस दिन ",पृ० 13)

यहाँ पर " अवधूत " (संसार से निर्लिप्त सन्यासी) शब्द में भी कवि का सांस्कृतिक -राग ध्वनित है ।

सामयिक यथार्थ-बोध या भोगे हुए यथार्थ बोध का चित्रण करते हुए कवि अपने देश की " नैतिक गिरावट " को इंगित करता है -

" तुम्हारी चिरौरिया करते हुए
वे तो
वहाँ पहुंचे
मगर तुम --
उनके सामने रिरियाते हुए
क्या कहीं पहुंचे ? "

यह कविता अपने देश की वर्तमान राजनीति पर गहरा व्यंग्य करती है । नेता गण साधारण जनता से चिरौरी करके " विधायक ", सांसद " अथवा मन्त्री, मुख्य मंत्री के उच्च पद पर आसीन हो गए, लेकिन बेचारी निरीह जनता प्रार्थना करती पड़ी रह गई, उसकी कौन सुनता है । इस कविता में देश की वर्तमान स्थिति का " यथार्थ - बोध " कराते हुए कवि ने " मूल्यों के अवमूल्यन " का भी दिग्दर्शन कराया है ।

" दाता"," कविता में भी भारतीय-दर्शनों की छाप है ।
हमारे यहाँ" हिन्दू धर्म "," बौद्ध धर्म " एवं" जैन धर्म " - सब में" अपरिग्रह "
और" दान " का महत्व प्रदर्शित किया गया है । इस परिप्रेक्ष्य में कवि कहता है

" देना
धर्म है नदी का
+ + +
नदी तो, फिर ही पूर्ण होती है,
क्योंकि वह दाता है ।"

(देखना एक दिन-" दाता",पृ० 86)

हमारे भारतीय शास्त्रों में जीवात्मा तथा परमात्मा में
" अङ्गाङ्गी भाव - अंग एवं अंगी का सम्बन्ध माना गया है । कवि बरेण्य मेहता
जी इसी तादात्म्य को दिखाते हुए लिखते हैं --

" स्वर मेरा
पर राग तुम्हारा
कविता मेरी
पर भाव तुम्हारा
इसी तरह
हम साथ रहेंगे
+ + +
हाथ तुम्हारे में इकतारा ।"

हमारी भारतीय संस्कृति" समष्टि " के हितार्थ व्यष्टि
के त्याग पर सभी दर्शनों एवं शास्त्रों में समर्थन किया गया है । नरेश जी इसी
भारतीय सांस्कृतिक बोध से प्रेरित होकर" अफ्रीका निवासी मण्डेला " की
मानवता की प्रशंसा करते हुए उसके" व्यक्तिगत त्याग " एवं" समष्टिगत कल्याण
का उद्घोष करते हैं -

' पर मण्डेला ।

इतिहास जब

अपनी अभिव्यक्ति के लिए

किसी व्यक्ति को चुनता है

तो वह सब से पहले

उससे उसका व्यक्ति हर लेता है

ताकि वह संज्ञा से सर्वनाम हो जाए ।

\+ + +

इसी लिए अब तुम

सारी मानवता, देश और काल के

सर्वनाम हो । '

(देखना एक दिन-संज्ञा से सर्वनाम', पृ० 102)

निष्कर्षतः ' देखना, एक दिन ' संग्रह की कविताओं में भारतीय-दर्शनों, उदात्त-मानव मूल्यों एवं वर्तमान यथार्थ बोध आदि से सम्बन्धित भारतीय संस्कृति से संवलित विचारों को कवि ने वाणी दी है । कवि मेहता की कविता रूपी सरिता के दो छोर दिखाई देते हैं - प्रथम ' सांस्कृतिक-चेतना ' एवं द्वितीय ' ऊर्ध्व-चेतना ।' इन्हीं दोनों छोरों को स्पर्श करती हुई कविता की परमोज्ज्वला पयस्विनी प्रवाहमान है ।

::::::

' पिछले दिनों नंगे पैरों '

इस संकलन की कविताओं में मध्यकालीन भारतीय इतिहास के क्रूर फलक पर मुस्लिम शासकों के निर्मम आतंक से थरथर कांपती हुई रक्त-रंजित मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति का विद्रूप चित्र अंकित किया गया है । इन कविताओं में मध्ययुगीन इतिहास का बोझ और उसका दबाव अनुभव करता समय तथा इस समय में खड़े कांपते लोग, दोनों मिलते हैं । समय की हंफनी और लोगों की कंपकंपी - दोनों को ही इन कविताओं में अनुभव किया जा सकता है ।

असीरगढ़ के बहाने लिखी गई इतिहास-बोध की इन तमाम कविताओं के माध्यम से हमें अंधेरे में थोड़ी - थोड़ी धूप और ताजी हवा भी मिलती है । यही धूप, हवा के झोंके और आकाश के टुकड़े- इतिहास की घुटन और रक्तपात के बीच भी मनुष्य को आज तक जीवित रखे हुए हैं ।

हमारी पूरी मध्यकालीनता में नानक, तुकाराम, कबीर, रामदास सूर, तुलसी, मीरा और तमाम सन्त भक्त कवि हमारी क्षीण होती जातीय अस्मिता को इतिहास की उस घुटन में इसी तरह धूप ,हवा और आकाश प्रदान करते रहे हैं । उनकी वाणी में ही हमारी जातीय चेतना को इतना आत्मबल प्रदान किया, इतनी निर्भयता प्रदान की है कि इतिहास की तलवार इस निर्भयता के समक्ष व्यर्थ हो गयी थी । इतिहास के दबाव में भी ये सन्त, भक्त, फकीर और अवधूत निर्मम होकर गाते थे --

' शाह के न राजा के,
किसी के नहीं चोबदार ।'

ये सन्त कवि अपने समय की सामाजिक चेतना के प्रतिनिधि थे और बड़े सामाजिक दायित्व का निर्वाह कर रहे थे । ये भक्त कवि ही सांस्कृतिक-चेतना के सजग अग्रदूत थे । वे ही तब धूप भी थे, आकाश भी और ताजी हवा भी । केवल इन्हीं की वजह से इतनी इतिहास की निर्मम मार सहकर भी तत्कालीन

संस्कृति जीवित रह सकी ।

इस सन्दर्भ में श्री प्रमोद तिवारी के विचार उल्लेख्य है कि ' यदि मध्यकाल की संत भक्त कवियों की वह कविता मध्यकाल के अंधेरे में खिड़की हो सकती है, तो आज बहुत-आयामी प्रदूषण में नरेश जी की ये कवितायें क्या खिड़की नहीं है जो इस घुटन में उसे ताजी हवा दें, धूप दे और खुला आकाश दे ? खिड़की तो है, पर उस खिड़की तक मनुष्य को जाना ही होगा । जाना ही नहीं होगा[1] बल्कि खिड़की भी खोलती होगी । इसके लिए कविता मददगार होगी ।'

वास्तव में ये कविताएं मध्यकालीन ऐतिहासिकता पर नंगे पैरों जैसा चलना ही थी अर्थात् कठिन या कष्ट कर कार्य था । इस सन्दर्भ में नरेश जी ने स्वत: लिखा है -' वस्तुत: ये कवितायें मध्यकालीन ऐतिहासिकता पर नंगे पैरों जैसा चलना थी । इसलिए इस संग्रह की की अन्तिम कविता की पहली पंक्ति ' पिछले दिनों नंगे पैरो ' से उपयुक्त ,भले ही सार्थक न[2] भी सही, दूसरा नाम या संज्ञा इस संकलन का नहीं हो सकता था ।'

वस्तुत: इन कविताओं का प्रारंभ' राग-मन ले ' सीढ़ियों की ओर ' की रागात्मक मानसिकता से हुआ । इन कविताओं में मध्यकालीन ऐतिहासिक मानसिकता को जीवन्त रूप में अनुरेखित किया गया है । कवि का कथन है कि' राग-मन की सीढ़ियां चढते हुए' खून टपकाते , अंधेरे गुम्बदों ' के तले ' जब पहुंचता हुआ, तो लगा कि यह तो ऐतिहासिक दाविमता की ऐसी किलेबन्दी में घिरना हुआ है जहां से पीछे लौटने का कोई मार्ग नहीं है । अब यदि कोई मार्ग[3] संभव हो सकता है तो वह सिर्फ आगे ही हो सकता है, पीछे नहीं । '

कवि ने इस संकलन की कविताओं में पौराणिक प्रतीकों बिम्बों एवं मथकों के माध्यम से उन्हें नयी अर्थवत्ता प्रदान की है । उदाहरणार्थ - असीरगढ़ के किले, दरवाजों, दर दरवाजों एवं अंग्रेजी रेजीमेण्ट की मेहराबों का

1- नरेश मेहता - एक एकान्त शिखर - प्रमोद तिवारी,पृ० 62

2-' पिछले दिनों, नंगे पैरो - उपक्रम पूर्व , पृष्ठ 10

वर्णन करते हुए वहां के प्राकृतिक परिदृश्यों की प्राचीनता को " पितामह " जैसा" अश्वत्थामा का मिथक "," पाण्डवों के उदासीन आयुधों " आदि का प्रयोग करके अपने सांस्कृतिक -राग-बोध को व्यक्त किया है ।

अशीरगढ़ के किले के प्राकृतिक परिदृश्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है -

" यहां पर, शताब्दियों से पूर्व
जो पड़ छूट गये थे
वे आज भी पेड़ ही हैं
सरोवर में जो पानी था
वह आज भी पानी रही है

+ + +

यहां के इस एकान्त से उपयुक्त
और कोई स्थान नहीं हो सकता ।
संभव है कभी
हमें भी पाण्डवों के दिव्यास्त्रों की भांति
इनकी आवश्यकता पड़ ही जाए ।"[1]

" पाण्डवों के दिव्यास्त्रों" का प्रयोग करके कवि ने अपनी महाभारतकालीन संस्कृति की स्मृति को उजागर किया है ।

असीरगढ़ के प्रति रागात्मक मोह का उत्स कवि के हृदय से फूट पड़ता है --

" मेरे साथ
यह कैसा प्रति असीरगढ़ चला आया है,
जिसके प्रागैतिहासिक एकान्तों ने मुझे भी
अभिशप्त चिरंजीवी अश्वत्थामा बना दिया है ।"[2]

1- पिछले दिनों, नंगे पैरों - पृष्ठ 25-26

2- वही, पृ० 30

आचार्य द्रोण्म बम पुत्र अश्वत्थामा चिरंजीवी था । द्रोणाचार्य की मृत्यु पर वह विदिप्त एवं अभिशप्त हो गया था । कवि कहता है कि इस असीरगढ़ के प्रागैतिहासिक एकान्तों ने मुझे भी चिरंजीवी अश्वत्थामा की तरह व्याकुल सा कर दिया है । इससे कवि का सांस्कृतिक-व्यामोह व्यंजित होता है । वह सोचता है कि हाय, हमारी पावन भारतभूमि का यह मनोरम भूखण्ड असीरगढ़ का दुर्ग, असीरगढ़ की मीनार, सतपुड़ा की रमणीय पहाड़ियाँ - आदि आज अंधेरे में खून सी टपका रही है । अस्तु कवि के हृदय से करुणा का स्रोत फूट पड़ता है । भारतीय संस्कृति का केन्द्रीय उत्स करुणा है । भयानक से भयानक युयुत्सा को इस महाकरुणा में डुबोकर प्रशान्त किया जा सकता है । हिंसा इसी सरोवर में स्नान करके रूपान्तरित हो सकती है । महावीर जैन, गौतम, बुद्ध से गांधी तक इसी महाकरुणा के अवतार पुरुष थे । नरेश मेहता इस करुणा से कितना आर्द्र थे - इसका दिग्दर्शन" पिछले दिनों, नंगे पैरों" संकलन की कवितायें पढ़कर किया जा सकता है । कवि इस संकलन के उपक्रम पूर्व " में स्वयं कहता है -" संभव है इन्हें सुनते समय आपकोभी लगे कि आप भी इनके साथ इतिहास की अमानवीय ऐतिहासिकता के जलते तवे पर नंगे पैरों सहयात्रा कर रहे हैं ।"[1]

नरेश जी का कथन है कि इतिहास सिंहासन के चार शाश्वत पाद है - सत्ता, सम्पदा, सुरा और सुन्दरी । इतिहास के ये चार पाद - अथवा आधार भूततत्व दूसरी युगानुगत परिस्थितियों के साथ मिलकर सनातन से यह खूनी खेल खेल रहे हैं और भविष्य में भी खेला जाता रहेगा । क्योंकि इसका संबंध मनुष्य से है, न कि किसी सामाजिक व्यवस्था या कालखण्ड से है । न कि किसी सामाजिक व्यवस्था काल खण्ड से है । आदिम तन्त्र से लेकर लोकतंत्र तक इस खेल की प्रकृति और चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं दीखता है, जो परिवर्तन दिखाई देते हैं वे उसके आयुधों , प्रणालियों और लोगों की सहभागिता के ही होंगे ।

1- पिछले दिनों, नंगे पैरों - उपक्रम पूर्व, पृष्ठ 14

कवि का सांस्कृतिक अनुराग असीरगढ़ की घासों, पेड़ों, पगडण्डियों एवं जलाशयों के प्रति भी प्रफुटित हो गया है । वह संवेदना से मर्माहत होकर कहता है

' मैं आखिरी शब्द
' असीरगढ़ ' लिखकर
कविता समाप्त ही कर रहा था, कि
उसमें आए पेड़-
सामने की उस पहाड़ी पर जाकर
वापस पेड़ बनकर खड़े हो गए ।
घासें -
स्त्रियों सी घबड़ाकर
फिर से पगडण्डियों और ढलानों पर,
अपने वस्त्र ठीक करती
फैल आयी ।
जलाशय -
सदियों पुराने जलों की अपनी कथरी को ओढ़ता हुआ -
शिकायती मुद्रा में बुदबुदाते
बूढ़े कछुए सा
वापस चट्टानों में डुब गया । '[1]

कवि के विचारानुसार इतिहास के बहेलिए शासकगण किलों में सुरक्षित रहकर, छत्र-चंवरों के नीचे बैठे, गुलाब सूंघते ठुमरियों की शराब में धुत इतिहास के जाल में सभ्यता, संस्कृति एवं कला को नष्ट-विनष्ट करने के षडयन्त्र में सदा संलग्न रहते हैं --

' बस इतिहास के ये बहेलिए भी
+ + +
गुलाब सूंघते
ठुमरियों की शराब में धुत

1-' पिछले दिनों , नंगे पैरों ' , पृष्ठ 31

सिर्फ इतना ही सुनने के लिए बेताब रहते हैं कि
उनके इतिहास के जाल में
' किस सभ्यता
किस संस्कृति
और किस कला के
पहले पंजे फंसे
\+ + +
और आखिर में
उनकी स्वतन्त्रता ने कैसे दम तोड़ा । '[1]

कवि को अपनी संस्कृति के प्रति असीम अनुराग है । इसीलिए वह पौराणिक-कथाओं एवं पौराणिक पात्रों-चरित्रों को थोड़ी-थोड़ी दूर पर रूपायित करता हुआ आगे बढ़ता है । संस्कृति के रस-स्रोत से वह सर्जनात्मक संजीवनी प्राप्त करता हुआ चलता है । ऐसी किंवदन्ती है कि द्रोण-पुत्र ' अश्वत्थामा ' अपने पिता की मृत्यूपरान्त असीरगढ़ के समीपस्थ नर्मदा नदी में स्नान करके प्रतिदिन रात्रि के तीसरे प्रहर यहाँ लौट आता था । उसी पौराणिक कथा को आधार मानकर कवि लिखता है --

' वह
और कोई नहीं था
अश्वत्थामा ही था
अश्वत्थामा ! !
वह नर्मदा-स्नान करके
रोज रात्रि के तीसरे पहर
यहाँ के इन सुनसानों में लौट आता है
चिरंजीविता के अभिशाप ने
महाभारत के अन्तिम दिन के

1- ' पिछले दिनों , नंगे पैरों, पृष्ठ 34

इस दुर्दान्त, भीषण सेनापति को
उसके जघन्य कृत्य के लिए

\+ + +

ब्रणों का रक्त टपकाता
वह अश्वत्थामा ही था
अश्वत्थामा ।।[1]

इस प्रकार मेहता जी ने मध्यकालीन निर्मम एवं नृशंस साथ ही विलासी-सुरा सुन्दरी में मदोन्मत्त शासकों के प्रति गहरा आक्रोश व्यक्त किया है । मुस्लिम हृदयहीन शासकों ने हमारी सांस्कृतिक धरोहर एवं अस्मिता को काफी आक्रान्त और आहत किया है । असीरगढ़ के किले, वहाँ के फाँसी घर आदि का उल्लेख करते हुए कवि ने तत्कालीन अपनी सांस्कृतिक दुर्दशा पर क्षोभ प्रदर्शित किया है ।

000000

1- पिछले दिनों, नंगे पैरों, पृष्ठ 50

* अरण्या *

नरेश मेहता ऐसे कृती हैं, जिन्होंने आधुनिक कवियों की पंक्ति से अलग होकर अपना सार्थक रचना बिन्दु पाया है । उनकी कृतियाँ आधुनिक युग-बोध से प्राय: अलग है । अपांक्तेय या अलग होकर भी वे अपनी प्राणवत्ता एवं संवेदनशीलता में जीवन एवं परिवेश से संयुक्त होने की ऐसी हरी भरी ऊर्जा एवं आलोक का विस्तार करती है कि उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता । उनकी यह अपांक्तेयता आधुनिकता के मुहावरों को दुहराने के बजाय नया मुहावरा गढ़ने लगी है । " फिलहाल , वे अकेले ही नई यात्रा में[1] निकले हैं । संभव है कल और लोग भी इस " उत्तर दिशा " को खोलने में लग जांय ।"

" उत्सवा " में जीवन उत्सव बनकर सम्पन्न होता है, आक्रोश या क्रन्दन बनकर नहीं । किन्तु वानस्पतिकता की यह अनुभूति मनुष्य-जीवन से पहले प्रकृति के आँगन में सम्पन्न होती है ।" अरण्या " नरेश जी की उस प्रकृति से मानव-चेतना में रचनात्मक वापसी है । इसमें कवि प्रकृति के पदार्थिक उत्सव में मग्न नहीं है, वह बार-बार अरण्यानी से अपनी धरती पर आने की कामना करता है — वह धरती जो सारी विराटता को फलीभूत करती है महत् बनकर ।

काव्य मनुष्य को लोकोत्तर बनने का आवाहन सदा से करता आया है - किसी आचार-विचार से नहीं, शब्द की प्राण-शक्ति का आह्वान करके शब्द-यज्ञ करके । शब्द द्वारा किया गया कवि का यह यज्ञ चेतना की विकास यात्रा की प्रक्रिया है - जो देश और काल दोनों का अतिक्रमण कर जाती है । शब्द के उच्चरित होने को ही मेहता जी यज्ञ कहते हैं । कवि (नरेश जी) स्वयं इस शब्द-यज्ञ में चेतना के सुदीप्त गवाक्षों को खोल रहा है । उनसे झरते प्रकाश से यदि हमें तुष्टि होती हो, तो वह पुरातन दैवी विचार नहीं बल्कि भावी मानव

1- आधुनिकता से आगे" - नरेश मेहता - डा० मीरा श्रीवास्तव, पृष्ठ 8

का नया अदार चैतन्य है । नरेश जी का 'शब्द-यज्ञ '' अर्थ और विचार की आहुति रूप में प्रयुक्त हुआ है । उनके शब्द भाषा की उस अदारता को पाना चाहते हैं जो ' मौन ' से उपजती है ।

' अरण्या ' की कविताओं में नरेश जी का वैचारिक औपनिषादिक वर्चस्व पृथ्वी की निरीह करुणा में धुलकर तरल हो उठा है और सहज से सहज दृश्यों में उनकी कवि-दृष्टि ऋषित्व को प्राप्त करने में संलग्न हुई है ।' अरण्या ' में कवि मनुष्य की साधारणता में विराट को पाने के लिए समुत्सुक है । रूप ही नहीं, नाम को उतार फेंकने पर मनुष्य भार-मुक्त हो जाता है । इस भार-रहित दशा में मनुष्य की अरण्य- यात्रा उसके निजी विराटता की खोज है --

' यदि बन सको ....
इन पर्वतों की भाँति औघड़
नदियों की भाँति पारदर्शी स्वरूप
और इन आदिम हवाओं की भाँति अनागरिक
तो तुम्हें
यहाँ घासों गली छोटी सी निर्जनता ही
केश खोले किन्नरियों की अलभ्य लगेगी
और इसी अलभ्यता के किसी छोर पर ही
साधारण दूर्वाओं जैसी वह अप्राप्यता है
जो कामधेनु है । '[1]

' दूर्वा ' का रूपक कवि को अति प्रिय रहा है । वह बहुत ही साधारण है, लेकिन उसमें' किन्नरियों जैसी जो अलभ्यता' है, वह नाम रूप उतार फेंकने पर विशिष्ट से साधारण बनने पर ही संभव है ।' अनागरिक ',' निर्जनता ' आदि शब्दों से' आदिम हवाओं' की तरह प्रवेश करती यह अरण्या आज के अजनबीपन से हट एक ऐसे मुक्त वायु मण्डल में प्रवेश करती है, जो' आदिम ' होते हुए भी अपने प्रवह में सृजनशील है । नदियों की भाँति पारदर्शी स्वरूप लेकर या प्रदूषण लेकर नहीं । यह एक प्रकार से पृथ्वी पर निर्जन में देवता बनने की प्रक्रिया है ।

1- अरण्या - कामधेनु , पृष्ठ 6-7

पृथ्वी पर मनुष्य, जब व्यक्ति का नहीं वैराट्य का प्रतीक होता है, तब" देवता " बनता है । मनुष्य को देवता बनाने का प्रयास प्राचीनकाल से ऋषियों ने किया था । तब हमने देवता को पुकारा था । अब हम देवता को नहीं पुकारते, बल्कि देवता ही हमें आठोयाम पुकार रहे हैं । जो हमारा नित्य और कालातीत स्वरूप है , वही देवत्व है और उसे ही देवता पुकार रहा है —

" इसीलिए देवता ही अहोरात्र मनुष्य को पुकार सकते हैं ।

+ + +

आओ, धरती के कार्मिक बन्धुओं ।
यहाँ आओ
और हमारी मैत्री तथा मातृत्व स्वीकारो ।।"[1]

हमारी आधुनिक सभ्यता को काव्य की शक्ति पर सन्देह है । यह अनाश्वस्त, संत्रस्त एवं कुण्ठित सभ्यता है । नरेश जी का पूर्ण विश्वास है कि यह कविता उद्दीप्त या उद्भ्रान्त न होकर" छन्द व्यक्तित्व " से भद्र कविता है । यह व्यक्तित्व आधुनिकता का अतिक्रमण करके" विश्वात्मनु " या विराट को काव्य वेदी पर वहन करता है —

" ओ छन्द व्यक्तित्व के भद्र । अवतरित होओ,
यह काव्य-वेदी ही तुम्हारे विश्वात्मनु को वहन करेगी
और सृष्टि को आश्वस्ति देगी
क्योंकि काव्य से बड़ी कोई आश्वस्ति नहीं होती ।।"[2]

प्रकृति से, अरण्य से सब कुछ समेट कर कवि धरती पर वापस आता है क्योंकि पृथ्वी का उत्सव और मनुष्य का कविता बनना ही आधुनिक युग की सब से बड़ी घटना होगी —

युद्ध के अठारह दिनों के सत्ताभिषेक के बाद ही
कृष्ण की वैष्णवता
इतिहास का वासुदेव बनी थी ।
स्नातक हुई इस पृथिवी

1- कामधेनु,पृ० 40 (2) काव्य-यज्ञ "पृष्ठ 45

और संत्रस्त लोगों के पुन: उत्सव होने से अधिक
न कोई मन्त्र है,
और न वैष्णवता ।'[1]

वर्तमान युग में, पोस्टर और कम्प्यूटर संस्कृति में लोगों का विश्वास हो गया है कि कविता मर चुकी है, ऐसे समय में कवि का दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य मात्र को केवल' कविता की प्रतीक्षा है - आश्चर्य चकित कर देता है । कवि पुकार कर कहता है --

' उतार फेंको ये आग्रहों की वर्दियाँ,
पोस्टरों के वस्त्र
भाषा को दोगला बना देनेवाले ये भाषण
भाषा को गाली देनेवाले ये नारे
अपने स्वत्व और देह पर से नोंच फेंको
जो कि गुदनों की तरह
तुम्हारे शरीर पर गोद दिए गए हैं ।'[2]

पोस्टर और नारों के गुदनों से मुक्त स्वत्व और शरीर वैष्णवता में ढलकर कविता बनता है ।

कवि का कथन है कि' काव्य हमें राम नहीं देना चाहता, बल्कि हममें रामत्व जगाना चाहता है । कविता में ढलकर ही राम मनुष्य नहीं मनुष्य हो गए -- यही राम के मिथक की सार्थकता है ।' नहीं है वह सर्वहारा ' कविता में कवि बताता है कि राम कैसे रामत्व बन जाता है, मनुष्य कैसे मनुष्यत्व बन जाता है । सर्जनात्मकता कैसे साधारण से साधारण मनुष्य को ' क्षणिकत्व ' प्रदान करती है । वर्ग- संघर्ष के रौरव से दूर अति साधारण का यह ' क्षणि-व्यक्तित्व' मनुष्यत्व की चरम संभावना है --

---

1- अरण्यानी से वापसी ',पृष्ठ 57
2-' अरण्या: शब्दास्त्र ',पृष्ठ 60

' मेढ पर जनक-भाव से खड़े
इस कृष्णाकाय के नेत्रों में
सर्जक की अनासक्तता तथा
नवांकुरों को पहली बार
शशकों की भांति बैठे देखकर
जो आनन्द है
वह ऋषि व्यक्तित्व में ही संभव है ।'[1]

यह कवि की ऋषि-दृष्टि है, जो सर्वहारा में - ऋषि-व्यक्तित्व ' का दर्शन करती है, क्योंकि वह उसकी अनासक्ति पर मुग्ध है ।

रचना का वास्तविक आनन्द मनुष्य की ' पुरुष यात्रा ' है । अनासक्ति इस यात्रा का प्रथम अनुभव है और ऊर्ध्वाकुलता दूसरा ।' योगदान ' शीर्षक कविता में कवि ने इसी ऊर्ध्वाकुल अदम्य पिपासा के सन्दर्भ में' प्रकाश पिपीलिका ' दुर्वाओं के रूप में स्मरण किया है । सृष्टि के अन्दर कुछ भी तुच्छ या हेय नहीं है, सब कुछ अपनी प्रकृति बनकर कृतार्थ होता है । मनुष्य ही इस पुरुष-यात्रा में कोई योगदान नहीं करता, अतएव वही सृष्टि में सर्वाधिक अप्रासंगिक बनता चला जा रहा है । नीचे से ऊपर तक पृथ्वी है, जिस पर सूर्य नित्य एक निसर्गोत्सव आयोजित करता है ' सार्वजनिक भाव से । इस निसर्गोत्सव में मनुष्य को छोड़कर सभी सम्मिलित हैं क्योंकि वह पृथ्वी पर सूर्य के उत्सव में शरीर नहीं होता । दूर्वा कभी गिरी पड़ी या लोटी नहीं होती, वह सर्वदा ऊर्ध्वमुखी होती है । खेद है कि शताब्दियों व्यतीत होती जा रही हैं, किन्तु सार्वजनिक-भाव से सम्पन्न होनेवाली इस' पुरुषार्थ-यात्रा ' में मनुष्य ऊर्ध्वाकुल नहीं हुआ । अतः वह (मनुष्य) प्रकृति के सारे ' सूर्योत्सव ' में अप्रासंगिक बनता चला जा रहा है —

1-' अरण्या ' -' नहीं है वह सर्वहारा ' - पृष्ठ 21

" पृथिवी के अंतर को चीरती हुई दूर्वाएं -
प्रकाश-पिपीलिका सी
आदिम अंधेरों और विशाल पेड़ों की
आयुजित जड़ों सी होड़ लेती
ऊपर की ओर
किस उत्कटता से भागी चली जा रही होती है ।।"[1]

" दूर्वा " अहंवादी मनुष्य को भले ही निरर्थक अस्तित्ववाली प्रतीत हो, लेकिन वह तो मनुष्य को ही अप्रासंगिक मानती है, क्योंकि वह नदी सतत गतिशीलता , पहाड़ के स्थैर्य और पेड़ों की पुष्टता - सब से होड़ ले सकती है । इतना ही नहीं इन सब को पीछे छोड़कर ऊर्ध्वाकुलता में वह सब से आगे प्रकाश की ओर आगे बढ़ जाती है -

" देर होती देख
वह दूर्वा
मुझे और भी अप्रासंगिक बनाती
नदी, पहाड़ और पुष्ट पेड़ों से होड़ लेने के लिए
ऊपर पृथिवी तक पहुंचने के लिए
पुन: अपनी पुरुषार्थ यात्रा में समा गयी ।।"[2]

मनुष्य का पुरुष बनना" चैत्य पुरुष " बनना है, यही उसकी प्रकृति की कृतार्थता है । चैत्य पुरुष बनना" इतिहास बनने की त्रासदी भोगने से भिन्न व्यक्तित्व पाना है । अवतार या पैगम्बर और कोई नहीं, स्वयं मनुष्य का वह चैत्य पुरुष है , जो ऊर्ध्व-पुकार का उत्तर देता है । इसी परिप्रेक्ष्य में कवि अपने काव्य के लिए कहता है कि वह व्यक्ति का इतिहास प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि मनुष्य को चैत्य-पुरुष बनाता है --

---

1- अरण्या - " योगदान ", पृष्ठ 30

2- वही, पृष्ठ 31

" इसलिए व्यक्ति का,
नहीं -
मनुष्य मात्र का चैत्य-पुरुष बनना ही
मेरा काव्य है ।"[1]

यहाँ पर ध्यातव्य है कि सर्वहारा का चैत्य-पुरुष प्रबुद्ध है इसीलिए वह ऋषि बनकर कविता में अवतरित होता है ।

" पुरुष-यात्रा" कविता में आदि से अन्त तक चेतन-भाषा में निसर्ग की कृपाओं का विपुल सम्बोधन है । कवि ने प्रकृति की " सम्पदा " को प्रदर्शित करते हुए कहा है --

" धूम " लिखे ये पहाड़
उफनाते थनोंवाली आकुल नदियाँ
कृपा-प्रिया विशाखा - हवायें
पुष्ट स्तनों जैसे ये खिलखिलाते फूल ।।"

(पुरुष यात्रा,पृ० 37)

आकाश में पक्षी " पेड़ों में ध्यान की घंटियाँ लटकाते " " कोलाहल की वन्दनवार टाँगने के लिए -" अदिति उड़ते रहते हैं और धरती में शब्दों के मन्त्रबीज रख आते हैं, जिससे मनुष्य-मात्र को यह धरती " मुखिकोपनिषद् " लगे --

" पेड़ों को भाषा देते पक्षी
सबेरे से शाम तक
ऊँचे नीचे आकाशों में उड़ते हुए
यही तो चाहते हैं कि
तुम उनके इस सहज उल्लास को देखो कि
वे पूरे दिन
कैसे पेड़ों में ध्यान की घंटियाँ लटकाते होते हैं,

\+ \+ \+

1- अरण्या -" चैत्य पुरुष ",पृष्ठ 17

और धरती में
शब्दों के मन्त्र- बीज रख आते हैं
ताकि जब भी तुम पृथ्वी के पृष्ठ पलटो
तो तुम्हें धरती मृत्तिकोपनिषद् लगे ।।"

(" पुरुष यात्रा", पृ० 36)

" झरना " अपने को धूल और मिट्टी से बचाता जिस अमृत-जल को लेकर निसर्ग कृपा का दान देने मनुष्य के पास उपस्थित होता है, मनुष्य उससे विमुख ही रहता है । वह उस अमृत का स्पर्श नहीं करना चाहता । वह अपनी तृष्णाओं की मरु में भटकना ही अच्छा समझता है । वह मनुष्य ही बना रहना चाहता है," पुरुष" बनना ही नहीं चाहता । इसी लिए धूप। हवा, पगडण्डी, नदी, झरना-से तादात्म्य अनुभव नहीं करता है । इसी कारण" मृत्तिकोपनिषद लिखने में उसका कोई योगदान नहीं है । डा० मीरा श्रीवास्तव के शब्दों में - " प्रकृति के सुन्दर बिम्बों (प्रिया, वाग्दत्ता, ग्रामीण बालक) के माध्यम से प्रकृति की चेतन सत्ता का बोध कवि उपस्थित करता है, वह सचमुच ही एक नए ललित उपनिषद् को जन्म दे रहा है - मृत्तिकोपनिषद । उसकी रचना (कविता) इसी उपनिषद् की रचना में संलग्न है, क्योंकि मनुष्य के पुरुष भाव को जगाने के लिए जो उपनिषद् लिखे गये, उनमें मनुष्य की ऊर्ध्वयात्रा के अन्तिम पड़ाव का अनुभव ही है । वापस धरती पर आकर उस यात्रा की उल्लसित रचना-शक्ति का आख्यान प्राय: उनमें उजागर नहीं होता । नरेश जी की कविताएँ धरती को रचती है, पर एक बिलकुल ही भिन्न चेतना में जिसे उपनिषद् भाव से सम्पन्न भी कहा जा सकता है । + + + इसी लिए" अरण्या " की कविताएँ " उत्सवा" के वैष्णव पदावली जैसे भाव के बाद नए उपनिषद का भाव-जाग्रत करती है - मृत्तिकोपनिषद का ।"[1]

यह उपनिषद् प्रकृति के रागात्मक व्यक्तित्व के कारण ज्ञान प्रधान न होकर रागात्मक परम भाव से समृद्ध है । यह कविता का उपनिषद बनना नहीं, यह उपनिषद का कविता बनना है ।" पुरुष " यहाँ पदार्थिक

1-" आधुनिकता के आगे - नरेश मेहता -- डा० मीरा श्रीवास्तव, पृ० 124

सत्ताओं की महा प्रकृति के साथ तदाकृत है । प्रकृति- पुरुष का यह युगलभाव "अरण्या" की अनेक कविताओं में पारदर्शी रूप में विद्यमान है । उषा का वर्णन तो वैदिक ऋषियों ने भी किया है और राग-रंजित भी किया है, लेकिन उसका वधू रूप भी आत्म-ज्ञान का प्रकाशक है ।"अरण्या" में उषा एक सामाज्ञी के रूप में आती है । सृष्टि के इस युगल-भाव को कवि ने "साम्राज्ञी का आगमन" में स्वर, वर्ण, रूप, रंग आदि की इतनी विशिष्ट छवियों सहित चित्रित किया है कि कविता का आरम्भ एक मूर्त संगीत सा प्रतीत होने लगता है ।

उषा का "गन्धर्व - व्यक्तित्व" आकाश के नीलम प्रासाद से उतर कर क्रीड़ा भाव से याम-पल की छोटी-छोटी संगमरमरी सीढ़ियाँ चढ़ता नील, अरुण, सफेद, वासन्ती न जाने कितनी परछाइयाँ उत्पन्न करने लगता है । सारे वर्णों की परछाईं मात्र से विराट समुद्र का पुरुष भाव उफनाता हुआ "गुलाल ही गुलाल" हो उठता है —

"प्राची के दुर्ग कपाट खोल
आकाश के नीलम प्रासाद में
यह कौन गन्धर्व व्यक्तित्व
भैरवी-राग सा आकर खड़ा हो गया है ?
याम और पल की
छोटी-छोटी संगमरमरी सीढ़ियाँ चढ़ते
इस वसन्त वर्णी राग कन्या की
समुद्रों पर परछाईं पड़ रही है
और उफनाता समुद्र जल गुलाल ही गुलाल हो उठा है।"

उषा काल या प्रात: काल पक्षियों के कोलाहल और पंखों की फड़फड़ाहट से भाषा मूर्त हो रही है । समूची प्रकृति में पक्षियों का भाषाई उत्साह इतना मुखर है कि कवि "पाठशाला" का सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत करता है -

"कैसा है यह प्रकृति का भाषाई उत्साह कि -
पूरा प्रात:काल पाठशाला बन गया है ।"
(साम्राज्ञी का आगमन, पृ० 28)

1- "साम्राज्ञी का आगमन"

प्रात:काल सारी प्रकृति के प्रांगण में पक्षिगण खूब शोर-गुल और कोलाहल मचाते रहते हैं । कवि का कथन है कि मानों पूरी प्रकृति पाठशाला हो गयी है, क्योंकि पाठशाला में भी बालकगण खूब चिल्लाते रहते हैं ।

' पृथ्वी ' को ही कवि ने अपनी कविताओं का केन्द्र-बिन्दु बनाया है । प्रकृति और पुरुष की युगल-लीला को उसने यहीं संपन्न होते देखा है, आकाश में नहीं ।' मातृदेवी ',' महायोनि ',' मृत्तिका ', पार्थिक 'और' ' पृथिवी ' भी धरती के सम्बोधन की कवितायें हैं । पक्षियों का' कोलाहल ' पक्षी-पण्डित द्वारा कविता में पृथिवी-वेद की विभिन्न संहिताओं का भाषाविज्ञ पंक्तियों द्वारा व्याख्या करना तथा भाष्य प्रस्तुत करना है --

' व्यावहारिकता में
कोई भी पक्षी-पण्डित कुल किसी से कम नहीं है
तभी तो
वेद-पाठ के समय भी
मिट्टी में दबी बीज दक्षिण पर
सब की काग दृष्टि लगी है । '

(अरण्या, पृष्ठ 26)

' अरण्या ' की कविताएं पृथ्वी पर ही केन्द्रित है । कवि ने वानप्रस्थी या आरण्यक भाव लेकर अरण्य में प्रवेश नहीं किया है । उसने तो अरण्य को अरण्या भाव अर्थात् फल-फूल से सम्पन्न, फूलते-फूलते-वानस्पतिक रूप में परिणत किया है ।

कवि को पृथ्वी सर्वदा एक शुभदा विग्रह (शरीर) लगती है । इसके महास्त्रोत को मनुष्य पढ़ नहीं पाता । कवि मेहता जी ने कभी पृथ्वी पर ' मृत्तिकोपनिषद् ' लिखा देखा, तो कभी ' पंचचामरी महास्त्रोत । उसकी दृष्टि में पृथ्वी सदा' शिव रूपा '' कल्याण रूपा' ही है ।

इस शिव के अर्थ को समझने के लिए इसें पंचचामरी महास्त्रोत के रूप में पढ़ना होगा । इसी लिए कवि अनेक बार मना करता है कि इस ग्रह पर रुद्रभाव न जगाया जाय --

" तुम क्यों नहीं समझते कि

यह विश्वात्मा सृष्टि

\+ + +

पंच चामरी छन्द वाला महास्त्रोत है ।

पृथ्वी के इस उत्सवी सदा शिव-विग्रह को

पुनः रुद्र मत बनाओ

मत जगाओ तत्वों की शांभवी को

मत जगाओ इस पंचानन को

मत जगाओ । "

(पंचानन, पृष्ठ 55)

कवि नरेश को " मिट्टी " मातृरूपा ,प्रिया रूपा, प्रजा-रूपा और आराध्या-रूपा दिखाई देती है । हमारे सन्तों, महात्माओं ने " मिट्टी में मिल जाना है " का रोना रोते हुए जिस मिट्टी को " मृत्यु की राख " का प्रतीक माना, उसे नरेश जी नहीं मानते हैं । वे इस मिट्टी " को सदा जीवन-रूपा , अतिप्रिया एवं सर्व प्रकारेण प्रयोजनवती ही मानते हैं । किसी तरह वह संत्रस्त नहीं होती । रौंदे जाकर, मर्दित होकर ,विदीर्ण होकर भी, चाक पर चढाये जाने पर भी -- हर दशा में, वह प्रिया बनकर ही जल लाती हुई दिखाई देती है -

" जब तुम

मुझे हाथों से स्पर्श करते हो

तथा चाक पर चढ़ाकर घुमाते हो,

तब मैं -

कुम्भ और कलश बनकर

जल लाती तुम्हारी अन्तरंग प्रिया हो जाती हूं । "

(मृत्तिका", पृ0 43)

यदि हमें कविता" शोर " या" बकवास " की तरह लगती है प्रभावित नहीं करती, तो उसका मुख्य कारण यह है कि उसमें विराटता नहीं है ।

और उसमें मनुष्यत्व को जगाने की अपार शक्ति नहीं है । आधुनिक कवियों में शब्द की शक्ति की पूरी पहचान नहीं रह गयी है । इसी कारण वे सदा ' भाषाई सेक्ट ' की बात करते हैं । शब्द का विराट हो जाना ही कविता बन जाता है, अन्यथा वह ' शोर ' है --

' शब्द था
रच दिया जाता तो कविता था ।
पर
अपनी शब्द-सत्ता और संभावना खोकर
फिर शोर बन गया है । '

(वैराट्य का भय, पृ० 2)

जब कवि अपने ' अहं ' का त्याग कर देता है, ' विलयन ' कर देता है, स्वत्व का पूर्ण समर्पण कर देता है, तभी उसमें सशक्तता और सर्वाधिक तेजस आता है । इसी स्थिति को ' निपात ' कहते हैं । ' निपात ' का शाब्दिक अर्थ है ' गिरना ' ऊपर से । वेग के साथ नीचे उतरने की प्रक्रिया को ' निपात ' कहते हैं । यहाँ ' निपात ' का अर्थ है ' अहं ' या ' स्वत्व ' का समर्पण या विलयन । नरेश जी ने कविता को ' सारस्वत-निपात ' अर्थात् ' पाण्डित्य का परित्याग (समाधिस्थ अवस्था) माना है । जब कवि में ' तेजस् ' आ जाता है, तब कविता कवि के पास सवेग झपट कर आती है --

' एक लपलपाती सिंह जिह्व सी
तेजस वृत्ति बनकर
अपने सारस्वत निपात के साथ
एक बाज पक्षी की भाँति झपटी
और मुझमें लीन हो गयी ।। '

(भाषा-निपात ', पृ० 16)

कविता को कवि आकाश में भी खोजता है, क्योंकि वह शब्द का अधिष्ठान है । लेकिन उनकी ' काव्य-कपिला ' श्यामा है - वह आकाश से धरती पर उतरती है - यही प्रकाश और कविता की सहज सार्थकता है । काव्य-

कपिला शब्द की गलघंटियाँ बजाती कवि के पीछे-पीछे हुनकती उतरती चली आती है, जैसे बछड़े के पीछे रँभाती गौ --

' मेरी यह श्यामा-कविता
कैसी नन्दिनी गौ की भाँति
आकाश से पूरा दिन चर कर
पुष्ट थनोंवाली हो जाती है
और तब गलघंटी बजाती
अपने थान और बछड़े की पीछे अकुलायी चल रही होती है
कविता इसी तरह रोज
आकाश से धरती पर उतरती है
और मुझे सहज तथा सार्थक बनाती है । '

(काव्य-कपिला', पृ० 18)

यहाँ पर डा० मीरा श्रीवास्तव के शब्दों में -' गौ ' का प्रतीक प्रकाश के अर्थ में वैदिक ऋषियों ने भी लिया है । प्रकाश की किरणें उन्हें अनेक आन्तरिक सम्पदा-भाव से भरती है । पर इस कविता में' माता ' और' अपत्य ' का रूपक लेकर कवि ने प्रकाश की उस सहज यात्रा को ध्वनित किया है, जो अपने आप आकाश से पृथिवी पर , ऊर्ध्व से अध में घटित होती रहती है । + + + प्रकाश रूपी यह शब्द मातृका पुष्ट थनोंवाली है, अकिंचन,कुंठित नहीं । + + + काव्य-शब्द ऊर्ध्व लोक से रँभाती हुई कपिला की तरह नीचे उतर आता है । इसी अर्थ में' कवि' निपात' या' अवतरण ' की बात करता है[1]

कभी काव्य-नन्दिनी गौ का रूप धारण कर लेता है, कभी प्रकाश धूम्रस्तु अश्वों का - जो द्यौ लोक और पृथ्वी के बीच सेतु बनकर पुराण भाव से ब्रह्माण्ड का अवलोकन करता है । और तब तक इस भाषा जैसी पृथ्वी को गर्भवती बनाने की कामना से कवि भर उठता है । सूर्य का पृथ्वी के प्रति निवेदन भाषा

1- आधुनिकता से आगे - नरेश मेहता - डा० मीरा श्रीवास्तव,पृ० 141

भाषा का प्रकाश के प्रति निवेदन है । चाहे यह भाषा फूल की हो, जल की हो, जल की हो या यत्र की हो या कर्म की । ज्योति पुरुष यानी सूर्य को निवेदित होकर पृथ्वी का सब कुछ शक्ति बन जाता है । इस पृथ्वी पर ही कृषक धन-धान्य का महाकाव्य रचता है । विभिन्न बीजाक्षरों में " कहीं " गेहूं की गायत्री "" कहीं यव के अनुष्टुप छन्द " और कहीं " ईख के स्त्रोत " लिख देता है -- अनासक्त ऋषि की तरह ।

समुद्र, जिस अक्षर के तेजस का धारण करने में खौलने लगता है, पर्वत टुकड़े-टुकड़े होने लगते हैं और दिशा यें भागने लगती है । उस कालातीत अक्षर को धरती को धारण करवाना, कवि-व्यक्तित्व के लिए एक चुनौती है । इस प्रणव के बीजाक्षरों को पृथ्वी पर रोपना क्या कोई साधारण बात है --

" कौन इस अक्षर वीर्य के तेज को धारण करेगा ?
क्या समुद्र ?
इस आवाहन मात्र से समुद्र खौलने लगते हैं ।
क्या पर्वत ?
इस संबोधन मात्र से पर्वतों के टुकड़े-टुकड़े होने लगते हैं
तब क्या दिशाएं ?
दिशाएं आकाशों में बगटूट भागने लगती है,
कौन बनेगा ऐसा आवाहनकर्ता विश्वामित्र ? "

(सिंह सूर्य, पृ० 24)

जो लोग वैदिक उपाख्यानों से परिचित नहीं हैं, नरेश जी की कुछ कविताओं का अर्थ उनकी पकड़ में नहीं आ सकता । नरेश जी की " अंधेरे में प्रकाश खोजती "" सरमा " को समझने के लिए वैदिक सरमा की प्रतीकात्मक कथा को समझना अनिवार्य है ।" सरमा " अंधकार में प्रकाश ढूंढ लाने का एक प्रतीकात्मक वैदिक उपाख्यान है । वैदिक उपाख्यान के सन्दर्भ" अरण्या" में पर्याप्त है । वैदिक ऋषियों ने उपाख्यानों का सविस्तार वर्णन किया है किन्तु नरेश जी पूरा वैदिक उपाख्यान नहीं उकेरते, वे उनका अंश मात्र चुन लेते हैं, जो प्रतीक

का काम करता है । उन्होंने 'इन्द्र-वृत्र', 'विश्वामित्र', 'त्रिविक्रम' 'ब्रह्मणस्पति', 'पाशुपत रुद्र', 'सरमा', 'शिखण्डी', 'नन्दिनी कपिला' आदि के उपाख्यानों को 'प्रतीक' रूप में ग्रहण किया है ।

कवि-नरेश्य नरेश अपने 'काव्य-यज्ञ' में शब्दों को अनन्त आकाश-गंगाओं से अभिषेकित करना चाहते हैं, अक्षरों को प्राचीन तथा नवीन ज्योतियों से अभिमंत्रित, मात्राओं में ब्रह्माण्ड की गति उतार लेना चाहते हैं और उच्चारणों में सौर-मण्डलों और अयनों को । इसीलिए भाषा मन्त्र सदृश हो उठती है, वह काव्य को यज्ञानुष्ठान के समान सम्पन्न करती है -

' शब्दों ।
अनन्त आकाश गंगाओं से अभिसिंचित होकर
इस अनुष्ठान में अभिषेक जल बनो ।
अक्षरों ।
प्राचीन प्रकाशों और नवीन ज्योतियों से अभिमंत्रित होकर
अक्षत बनकर आज तुम्हें अपनी हवि देनी है । '

(काव्य-यज्ञ, पृ० 45)

' अरण्या ' में नरेश जी की वाणी ' उदात्त उद्‌घोष ' से भरी हुई है । यहाँ भाषा मन्त्र बनने के अनुष्ठान में आकाश गंगाओं, प्राचीन प्रकाशों, नवीन ज्योतियों, सौर-मण्डलों, समुद्रों आदि की प्राकृतिक सम्पदाओं को शब्दांकित करती छन्द-व्यक्तित्व की एक ऐसी भद्र कविता को अवतरित करने में संलग्न है, जो विराट या विश्वात्मन् को वहन हुई मनुष्य और सृष्टि को पूर्ण आश्वस्ति भी देती है ।

वर्तमान युग अतीव अनाश्वस्त एवं भीत है । इसके लिए काव्य ही सब से बड़ी आश्वस्ति हो सकता है । छन्द-व्यक्तित्व से संवलित भद्र काव्य के विषय में कवि कहता है -

' क्योंकि काव्य से बड़ी कोई आश्वस्ति नहीं होती । '

(काव्य-युद्ध , पृ० 45)

काव्य का यह अवतरण धरती पर ही होता है । इसके लिए "अरण्यानी से वापसी " अनिवार्य है । वही कवि की शाश्वती है । कविता आत्मोपनिषद् नहीं है । वह कवि के लिए" पृथिकोपनिषद् " है ।" अरण्या " में कवि की विराट मानवीय पीड़ा को देखा जा सकता है ,जो फुक्त यथार्थ की साक्षी मात्र ही नहीं बल्कि उस विराट करुणा में परिवर्तित हो गयी है, जो मनुष्य को विराटता देती है । कवि अपनी अरण्यानी से धरती पर कविता बनकर वापस लौटता है -

" इसलिए मेरी अरण्यानी । मुझे यहाँ से अपनी धरती अपनी
शाश्वती के पास लौटना ही होगा । "

(अरण्यानी से वापसी, पृ० 58)

सूर्य को सारा अर्ध इसलिए ही दिया गया था कि उसकी तेजस्वितायें धरती पर आकर मनुष्य, पशु, पक्षी, फूल-वनस्पतियाँ बनकर उगें —

" मैंने सूर्य को अर्ध दिया ही इसलिए था कि -
उसकी तेजस्वितायें,
निश्चय मेरी गलियों में
इस धरती पर आकर
मनुष्य,पशु,पक्षी,फूल वनस्पतियाँ बनकर उगें ।"

(अरण्यानी से वापसी, पृ० 58)

कवि सूर्य का प्रतिफलन" धरती " पर चाहता है। इसलिए वह" अरण्यानी से वापसी " में सूर्य की सुगन्ध की कामना करता है । यह सूर्य सुगन्ध मनुष्य से लेकर दूर्वा तक के लिए एक पवित्रता है, एक गरिमा है और एक उत्सव है । कवि इसे भी वैष्णवता मानता है ।" अरण्या" में करुणा सृष्टि मात्र का लांछन धोने के लिए सूर्य की करुणा बनकर उपस्थित है । वह सूर्य करुणा कण-कण को प्रकाशित करती हुई सृष्टि के अंधकार को दूर कर देती है । इसी कारण मेहता जी की कविता प्रार्थना बनकर ही चली है, वह सूर्य के अवतरण की प्रार्थना ही अधिकाधिक बनी है । कवि कहता है —

'चलो मेरी वैष्णवता ।

मेरी प्रार्थना । मेरी कविता । चलो -

इस पृथिवी पर वनस्पतियाँ बन कर

सृष्टि की भाषा बनकर चलो,

प्रत्येक चलना अवतार होता है

धूप सूर्य का

और नदियाँ, बादलों का अवतार ही तो है

सृष्टि मात्र को,

मनुष्य मात्र को इतिहास और राजनीति नहीं,

एक कविता चाहिए ।'

(अरण्यानी से वापसी, पृ० 59)

हम अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि' अरण्या ' में कवि मनुष्य मात्र के लिए एक गरिमामय, उदात्त एवं पवित्र कविता रचने में संकल्पित दिखाई पड़ता है । इसलिए ये कविताएं अरण्यानी की संकुल पवित्रता को धारण किए हुए' सृष्टि की भाषा' बनकर इसके छन्द अवतरित हुए हैं ।

0000000

चतुर्थ अध्याय

' संशय की एक रात '

नरेश मेहता ने अपने खण्ड-काव्यों की रचना मिथकीय आधार पर की है । मिथक किसी जाति की संस्कृति के गहरे स्रोते होते हैं । वे अतीत से वर्तमान तक और वर्तमान से भविष्य तक अपनी प्रवहमानता बनाए रहते हैं । जातीय संस्कारों के निर्माण में इन मिथकों के प्रयोग का गहरा योगदान होता है । भारतीय सन्दर्भ में इन मिथकों का आत्यन्तिक महत्त्व है । किसी भी भारतीय के लिए राम, कृष्ण, शिव आदि ऐसे प्रेरक शब्द हैं कि इनके उच्चारण मात्र से उसके हृदय में स्फुरण होने लगता है । अतीत के पुराख्यानों से, अतीत के चरित्रों से हम बार-बार नया प्रकाश पाते हैं ।

नरेश मेहता का पहला खण्ड काव्य' संशय की रात ' एक बहु चर्चित प्रबन्ध काव्य है । इस काव्य में श्री राम को प्रश्नाकुल और विभाजित व्यक्तित्ववाले' प्रज्ञा पुरुष ' के रूप में प्रस्तुत किया गया है । रामचरित काव्य परंपरा सुदीर्घ और समृद्ध है । वाल्मीकि से लेकर तुलसी तक - राम का चरित प्रबन्ध काव्य की जितनी ऊँचाइयों पर जितना चढ़ सका, उतना चढ़ सकाइस इसलिए सका, क्योंकि इस चरित काव्य की रचनात्मक शक्ति भक्ति और आदर्श -कर्म की असीम या अकूल भावना रही । भावना और शिल्प, भक्ति और दर्शन, समाज और व्यक्ति के सन्दर्भों की यह काव्य जितनी उत्कृष्टता से अभिव्यक्ति कर सका, उससे आगे अभिव्यक्त करने के कुछ खास बचा ही नहीं । किन्तु' राम ' का युगातीत पुरुषत्व अवश्य बच गया , जिसको नए सन्दर्भों में आधुनिक - काल के व्यक्ति-समाज की जटिल समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त किए जाने का' स्कोप ' बचा ही नहीं, बल्कि

बिलकुल बाकी था । इसी वैचारिक व्यक्तित्व की कमी की पूर्ति " संशय की एक रात " में कवि ने करने की चेष्टा की है ।

डा० जीवन प्रकाश जोशी ने सर्वथा उचित ही कहा है कि - नयी कविता की पारम्परिक प्रबन्धात्मकता में इस कृति का पहला ऐतिहासिक महत्व यों है, क्योंकि उसे आधुनिक सन्दर्भ की नयी नज़र मिली है । नयी ज़ुबान का थोड़ा नया लहजा मिला है ।"[1] " संशय की एक रात " एक गहरी मानवीय चिन्ता की ग्रस्त मन का संशय प्रस्तुत करती है । राम जो भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड बन चुके हैं, आलोच्य काव्य में एक नयी चिन्ता के साथ अवतरित होते हैं । राम वाल्मीकि के काव्य में मानव हैं । गोस्वामी तुलसीदास ने उन्हें मनुष्य से ईश्वर बनाया । यह ईश्वरीभूत राम भारतीय मानस के जाज्वल्यमान प्रतीक बनते गए । यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जो ईश्वर है, उसके असाधारण आचरण तक मनुष्य की पहुँच कैसे हो ? वह गलती भी क्यों करेगा ? हाँ वह लीला कर सकता है । अत: वही वह करता है । राम के अपराजेय पौरुष , उनका भ्रातृत्व, उनकी मर्यादा प्रियता ,शील, शक्ति ,सौन्दर्य आदि अनेक गुणों को तुलसी ने गहराई से उभारा है । परन्तु राम की वीरता और पौरुष में " करुणा और" मानवीय संवेदना का तत्व " कितना है और बर्बर युद्ध के पूर्व राम में कोई संकल्प- विकल्प होता है या नहीं - इस प्रश्न को गोस्वामी जी ने अछूता ही छोड़ दिया है । जो ईश्वर है, भला उसे संशय क्यों होगा ? वह तो असंशय का प्रतिरूप है । संशय हो तो" रावण " को हो, राम को क्यों हो ? परन्तु नरेश मेहता के " राम " मनुष्य है और एक उदात्त चरित्रवाले महामानव ।" उनका मूल स्वरूप" करुणा "," प्रेम " और" अहिंसा " का है । युद्ध में प्रस्थान करते हुए उन्हें बराबर यह लगता है कि युद्ध बर्बर कुकृत्य है । इसमें बहुसंख्यक जनों का भयानक रक्तपात होता है । रक्तपात मनुष्यता का सब से बड़ा अपमान है । ऐसी परिस्थिति में राम के मन में एक गहरा संशय उभरता है कि क्या युद्ध ही

1- नयी कविता की मानक कृतियाँ " - डा० जीवन जोशी, पृ० 128

एक मात्र विकल्प है । क्या युद्ध से ऊपर उठकर केवल मानवीय गुणों को उभार कर ही हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते ? राम कहते हैं —

' इतिहास के हाथों
बाण बनने से अधिक अच्छा है
स्वयं हम
अंधेरे में यात्रा करते हुए
खो जायें
\+ \+ \+
श्रेष्ठ हाथों की प्रतीति के लिए
इस मिथ्यात्व को
शास्त्र - सम्मत सत्य कह कर
मत छलो ।
सब शिव की नींव में
सोया अंधेरा है
मत जगाना
अंधेरों को मत जगाना
लक्ष्मण मत जगाना ।'[1]

महा मानव राम की दृष्टि में युद्ध एक गहन घुप्प अंधेरा है । उन्हें लगता है कि इस अंधेरे से अपने को आच्छादित करना सब से बड़ी पराजय है । इस रक्त सने पगों द्वारा वे सीता की वापसी भी नहीं चाहते — यही तो मानव की मानवता है —

मुझे ऐसी जय नहीं चाहिए,
साम्राज्य नहीं चाहिए,
मानव के रक्त पर पग धरती आती

1- संशय की एक रात, पृष्ठ 10 ।

सीता भी नहीं चाहिए,
सीता भी नहीं ।"[1]

हमारी भारतीय संस्कृति ' मानवतावादी ' अहिंसावादी ' और ' करुणावादी' है । उपर्युक्त पंक्तियों में इन उल्लिखित उदात्त मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा में राम असीम आस्था व्यक्त करते हैं । कवि का सांस्कृतिक राग-बोध फूट पड़ा है ।

जब कवि पौराणिक या ऐतिहासिक कथाओं में कोई परिवर्तन ' करना चाहता है तो इस बात का बराबर ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं वह ऐसी कड़ी तो नहीं जोड़ रहा है जो उस कथा श्रृंखला में बैठे ही नहीं । दूसरे उस नयी कड़ी को जोड़कर वह पुराने कथा-प्रवाह को और युगीन संगति को कहीं तक उजागर कर पाता है ।' संशय की एक रात '- दोनों दृष्टियों से खरा उतरता है । राम की उदात्तता, उनका महामानवत्व, उनकी गहरी क्षमाशीलता और उनका शील -- सभी ऐसे गुण हैं, जो युद्ध की विभीषिका में उनमें अरुचि उत्पन्न कराने वाले हैं । राम के चरित्र में अन्य राज कुमारों का वह हिंस्रभाव या उग्र-स्वभाव कभी था ही नहीं । वे गंभीर प्रकृति और पशान्त मनवाले रहे हैं । भला कैसे संभव है कि युद्ध के भावों को लेकर उनके मन में संकल्प विकल्प न उभरे ? ठीक है रावण ने सीता का अपहरण किया है । राक्षस तो सदा से साधुओं को सता रहे थे । परन्तु क्या उसे रास्ते पर लाने के लिए श्रेष्ठतर साधनों का उपयोग असंभव है ? राम ऐसे महापुरुष' रक्तपात ' या युद्ध ' क्यों चाहेंगे । इस परिप्रेक्ष्य में राम के मन में उपजा हुआ वह संशय राम के चरित्र के उपयुक्त ही लगता है । यह संशय कहीं से राम की विश्वनीयता को खण्डित नहीं करता । हमारी भारतीय संस्कृति भी इसी विचार का समर्थन करती हुई कहती है -

" न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन ।
अवैरेण हिशाम्यन्ति, एष धर्म सनातन: ।। "[2]

इस सन्दर्भ में डा० राम कमल राय ने लिखा है कि -" कथा की

1- संशय की एक रात , पृ० 13-14

2- महाभारत - शान्तिपर्व

परिणति तो कवि बदल नहीं सकता था । रावण और राक्षसों का बध तो होना ही था । परन्तु राम के मन में उठा यह संशय आज की मनुष्यता के मन का संशय है जब भी हम " न्याय " के नाम पर " स्वत्व " के नाम पर " अस्मिता " के नाम पर युद्धोन्मुख होते हैं, तो यह मानवीय भाव बार-बार उदित होता है, होना ही चाहिए ।"[1]

राम की द्विविधा यह है कि उनकी व्यक्तिगत समस्याएं युद्ध जैसी ऐतिहासिक कारणों को जन्म क्यों दे । मानव - मूल्यों में उनकी पूर्ण आस्था है, अतः वे घोर नर संहार नहीं चाहते हैं । उनका शंका कुल द्विधाग्रस्त मन कह उठता है -

" दो सत्य,
दो संकल्प,
दो- दो आस्थायें
व्यक्ति में ही
अप्रमाणित व्यक्ति पैदा हो रहा है । "[2]

राम की अभिव्यक्ति में जो दो सत्य, दो संकल्प और दो व्यक्ति होने की व्यंजना है, वह एक ओर तो राम को अतिशय " विनम्र " व्यक्त करती है और दूसरी ओर इस व्यंजना में से राम का व्यक्तित्व उभरता है, वह विनम्रता के व्याज से उनके महान कर्ता होने का बोध कराता है । हमारे भारतीय काव्य-शास्त्रों में नायक " चार प्रकार के माने गये हैं -- (1) धीरोदात्त (2) धीर-प्रशान्त (3) धीर ललित एवं (4) धरोद्धत ।" राम " सभी काव्य में " धीरोदात्त नायक " के रूप में ही चित्रित किए गए हैं । यहां पर भी नरेश मेहता ने उन्हें " धीरोदात्त नायक " की विशेषताओं से अविष्ठित किया है ।

1- नरेश मेहता : कविता की ऊर्ध्व मात्र - डा० राम कमल राय, पृ० 81-82
2- संशय की एक रात, पृ० 23 ।

धीरोदात्त नायक - विनम्र, सुशील, शक्ति-सम्पन्न एवं साहस पौरुष आदि गुणों से समन्वित होता है । राम की यही " विनम्रता " उपर्युक्त पंक्तियों में व्यंजित हुई है । राम इस कृति के " नायक " हैं और " लोक-नायक " भी प्रमाणित होते हैं ।

डा० जीवन प्रकाश जोशी " संशय की एक रात " के प्रथम सर्ग पर टीप करते हुए लिखते हैं -" निष्कर्षतः यह समूचा सर्ग " काव्य-मूल्यों " की दृष्टि से स्तरीय है । बावजूद इसके कि अभिव्यंजना में स्त्रैणता है । उसकी सजावट छवि-लय, ध्वनि और रागमयता छायावादी परम्परा-पथ की है । नयी बात कहने को यहां खासकर युद्ध विषयक वैचारिक संशय की स्थिति है, जिसकी पहचान के प्रति कविता पांव बढ़ा रही है ।"[1]

द्वितीय सर्ग वर्षा भीगे अन्धकार का आगमन " राम के अनुत्तरित संशयों को और भी उकसाता है । वस्तुतः वे " मूल्यान्वेषी " हैं । वे कहते हैं -- " मानव का मानव से सख्य चाहता हूं।।" वे युद्ध एवं तलवार से मानवीय प्रश्नों का हल नहीं चाहते ।

भारतीय संस्कृति का उद्घोष यह है कि " सर्वे भवन्तु सुखिनः तथा " मा कश्चिद दुःख भागभवेत । " यहां पर भी राम " लोक-हित " एवं " भवहित " की कामना करते हैं ।

हमारी भारतीय संस्कृति " उदात्त मानव-मूल्यों " में असीम आस्था रखती है । राम " मानवत्व " के प्रतीक हैं । वे सत्य और न्याय के लिए युद्ध चाहते हैं, क्योंकि उन्हें " अपहृत स्वतंत्रता " को लाना है ।

हमारी भारतीय संस्कृति " अस्तिकतावादी " है । वह " स्वर्ग " नरक," पुर्नजन्म "" प्रेतात्मा " आदि में पूर्ण आस्था रखती है । इसी सांस्कृतिक बोध से प्रेरित होकर कवि नरेश मेहता " संशय की एक रात " के द्वितीय सर्ग में दशरथ की प्रेतात्मा की " छाया " का प्रसंग अवतरित कर दिया है । यह भारतीय सांस्कृतिक बोध ही है, आधुनिक विज्ञानवादी इसे नकारते हैं । दशरथ की छाया कहती है --

---

1- नयी कविता की मानक कृतियां - डा० जीवन प्रकाश जोशी, पृ० 133 ।

' उस अजन्मे अमूल्य महा काल को,

न जन्म से

न मृत्यु से

न सम्बन्धों से,

योजित या विभाजित किया जा सकता है,

उस महा नियम के निकट

हम केवल कर्म के दाण हैं । '[1]

भारतीय संस्कृति भोगवादी नहीं अपितु ' कर्मवादी ' है । गीता में कहा गया है —' कर्मण्येवाधिकारस्ते ' अर्थात् तुम्हारा मात्र कर्म में ही अधिकार है । यही सांस्कृतिक राग का स्वर दशरथ जी की ' छाया ' अलापती है-

' हम केवल कर्म के दाण हैं । '

तृतीय सर्ग -' मध्यरात्रि की यंत्रणा और निर्णय ' शीर्षक से प्रारम्भ होता है । यह सर्ग अधिक विचारोत्तेजक है । इस सर्ग में आकर कवि ' जनतांत्रिक मूल्यों ' पर टिक जाता है । वैचारिक और दार्शनिक पक्ष इस तीसरे सर्ग में एकदम उभरा है । नरेश मेहता के राम को अपने सेनानियों और भाई लक्ष्मण सेवक हनुमान और जाम्बवान तथा परिषद् के निर्णय के सामने झुक कर युद्ध में तत्पर होना पड़ता है । कथा की केन्द्रीय परिणति को परिवर्तित कर पाना कवि के लिए संभव नहीं था । उससे तो सारी विश्वसनीयता ही समाप्त हो जाती। परन्तु युद्ध को स्वीकारते हुए भी राम अपने संशय को, अपनी चिन्ता को पूरी मानवता के लिए जीवन्त रूप में छोड़ जाते हैं । अपनी पितात्मा की छाया को सम्बोधित करते हुए राम कहते हैं —

' लेकिन पितात्मा !

ये सब स्वीकारोक्तियां हैं

सत्य नहीं ।

1- संशय की एक रात - द्वितीय सर्ग, पृ० 58-59

इनकी वास्तविकता को
कभी चुनौती दी ही नहीं गई ।
इन अन्धविश्वासों को
किसी संशय ने निगला ही नहीं ।
किसी वर्चस्व तर्क ने
इनके सत्य को
प्रश्न कर
बौना किया ही नहीं ।*[1]

गीता के कर्म सिद्धान्त की भाषा जब कृष्ण के मुख से उच्चरित होती है तो विचलित अर्जुन सहज ही कृष्ण के तर्कों को स्वीकार लेते हैं । परन्तु वे ही तर्क लक्ष्मण के मुख से, हनुमान, जटायु, जाम्बवान और पिता दशरथ की छाया के मुख से जब निकलते हैं, तो राम उनसे पराभूत नहीं होते । तर्क वही है । लक्ष्मण कहते हैं —

कितने ही लघु हो
इससे क्या ?
सार्थक है ।
स्वत्व है हमारा कर्म
+ + +
इन यांत्रिक पैरों में
संकल्पित प्रज्ञा है ।
वर्चस्वी निष्ठा है ।
उत्सर्गित इच्छा है । *[2]

परन्तु लक्ष्मण द्वारा निवेदित यह" संकल्पित-प्रज्ञा ",वर्चस्वी निष्ठा" और " उत्सर्गित इच्छा " राम को युद्धाभिमुख नहीं कर पाती । वे कहते हैं -

---

1- संशय की एक रात - पृ० 59-60
2- संशय की एक रात" - तृतीय सर्ग

" मैं केवल युद्ध को बचाना चाहता हूं बन्धु ।

मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है

उसको ही

हां, उसको ही जगाना चाहता रहा हूं बन्धु । "[1]

" गीता जैसा महान संस्कृति - निर्माता ग्रन्थ जिस स्तर पर और जिस निश्चयात्मक दृढ़ता के साथ युद्ध की अनिवार्यता को प्रतिष्ठित करता है, उसके सन्दर्भ में एक अपेक्षा कृत अधिक बड़ा मानवीय संशय प्रस्तुत कर पाना कोई सरल कार्य नहीं था । भारतीय संस्कृति के नए पुरोधा नरेश मेहता ने यह कार्य अत्यन्त कलात्मक सफलता से निष्पन्न किया है ।

डा० राम कमल राय ने " संशय की एक रात " पर बल्कि यों कहिए कि उसके सांस्कृतिक एवं वैचारिक महत्व को अनुरेखित करते हुए लिखा है कि - " नरेश मेहता की सब से बड़ी दूरदर्शिता और सांस्कृतिक चिन्तन की परिपक्वता इस नियोजन में है कि जहां महाभारत के सन्दर्भ में युद्ध को कर्म की पावनता एवं नि:संगता के साथ जोड़कर कृष्ण ने एक अनिवार्य कर्तव्य की पीठिका पर प्रतिष्ठित ही नहीं किया है वरन् उसे पूरी दार्शनिक सम्पुष्टि प्रदान की है, वहां उन्होंने युद्ध को एक हीनतर मानवीय विवशता के रूप में दूसरे और उतने ही मान्य महापुरुष राम द्वारा निरूपित कराया है । "[2]

हमारी भारतीय संस्कृति " समष्टिवादी " है । वह समष्टि के हितार्थ व्यष्टि का बलिदान स्वीकारती है । यथा -" त्यजेदेकं कुलस्यार्थे " अर्थात् समूह के हितार्थ एक का त्याग श्रेयस्कर है । यह " जनतांत्रिक-भावना " है । वर्तमान प्रजातांत्रिक देशों में भी इसका सर्वाधिक महत्व है । अन्तत: राम परिषद् की इच्छा के आगे अर्थात् वृहत को समर्पित हो जाते हैं ।

विभीषण एक खण्डित व्यक्तित्व है । वे युद्ध को अधिकार अर्जन का अन्तिम मार्ग मानते हैं किन्तु विभीषण का " राष्ट्र-प्रेम " "देश-प्रेम " जाग

1- संशय की एक रात - तृतीय सर्ग

2- नरेश मेहता : कविता की ऊर्ध्व यात्रा - डा० राम कमल राय, पृ० 84

उठता है । वह कहता है - " किन्तु अपने राष्ट्र के प्रति क्या यही कर्तव्य है मेरा,

उस पर हो रहे,

इस आक्रमण में साथ हूँ ।"[1]

विभीषण के माध्यम से कवि ने " जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी " का सांस्कृतिक स्वर झंकृत किया है । विभीषण को यह " राष्ट्र-घात " व्यथित कर देता है । सचमुच " जन्म-भूमि " गरीयसी ही है ।

चतुर्थ सर्ग " संदिग्ध मन का संकल्प और सवेरा " में परिषद् या समूह के निर्णयानुसार अन्तत: राम ने निर्णय ले लिया कि अपने व्यक्ति के लिए नहीं, सर्वहिताय " युद्ध करना होगा । यों, इस निर्णय के लिए राम अपने को साफ बचा लेते हैं -- सब को जिम्मेदार ठहरा जाते हैं ।

जनतन्त्र में व्यक्ति चाहे जितना भी बड़ा क्यों न हो, किन्तु उसके " स्व " और " मत " का कोई महत्व नहीं होता । व्यक्ति को वही करना होता है, जो जनमत चाहता है । जनतन्त्र का महत्व इस बात में ही है कि उसमें अन्तत: किसी व्यक्ति का नहीं, जनमत का महत्व है । इस सर्ग की समूची अभिव्यक्ति इसी सिद्धि में सार्थक हुई है । भारतीय-संस्कृति तो सर्वदा से " बहुजन हिताय " की उद्‌घोषिका रही है । आज का लोकतन्त्र भी इसी मत का समर्थक है ।

डा० जीवन प्रकाश जोशी का मत पूर्णत: उचित लगता है कि " यह काव्य राम सम्बन्धी काव्य के युद्ध विषयक पौराणिक सन्दर्भ को नए युग की जनतांत्रिक चेतना का वैचारिक सौन्दर्य सौंपता है । किसी दूसरी कृति में व्यक्तित्व के निर्वाह के साथ यह सन्दर्भ इस तरह उद्‌घाटित नहीं हुआ । पृष्ठ 74 से लेकर पृष्ठ 73 तक हनुमान जनवादी । समाजवादी मूल्यों के महत्व को उद्‌घाटित करते हैं और राष्ट्रवादी आस्था की जो अभिव्यक्ति करते हैं वह अतिरिक्त प्रभावशाली और उत्कृष्ट है ।"[2]

अन्तत: " संशय की एक रात " यह निष्कर्षित करती है कि प्रतीकात्मक पौराणिक पात्रों का उभारा गया - वैचारिक व्यक्तित्व ,आधुनिक

1- संशय की एक रात - तृतीय सर्ग

2- नयी कविता की मानक कृतियां - डा० जीवन प्रकाश जोशी, पृ० 137

परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में - परम्परा की जमीन में जमी आस्था की जड़ों में से रसत्तत्व खींचकर उसे नया जीवन प्रदान करने का प्रयास करता है । कवि ने ठीक ही कहा है कि --

" युद्ध केवल फेन नहीं,
निर्णय है,
जिससे इतिहास बना करता है । "

इस पौराणिक आख्यान में नरेश मेहता ने नितान्त आधुनिक समस्याओं का समावेश कर" काल की दूरी " हटा दी है । आधुनिक सन्दर्भों के समाहार से कवि ने कथानक को नवीन अर्थवत्ता प्रदान की है ।" राम " महामानव के प्रतीक हैं । वे युद्ध प्रिय नहीं है परन्तु उपनिवेशवाद को किसी भी मूल्य पर स्वीकारते नहीं हैं । वे " सत्य " और " न्याय" के लिए युद्ध चाहते हैं । भारतीय संस्कृति आदि काल से " सत्य "," न्याय "," अहिंसा " एवं मानवतावाद की पुजारी रही है । कविवर नरेश मेहता " वैष्णव कवि " हैं और उनकी कविता ऋषि-मुनि सुता है । अस्तु, इनकी काव्य-काया की धमनियों में भारतीय संस्कृति का रस-रक्त प्रवहमान है । इसे नकारा नहीं जा सकता है ।

00000

' महा प्रस्थान ' और उसमें अन्तर्निहित सांस्कृतिक राग-बोध

' महा प्रस्थान ' प्रबन्ध-काव्य (खण्ड काव्य) का प्रकाशन सन् 1975 में हुआ था । प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु महाभारत के ' महाप्रस्थानिक-पर्व ' से ली गयी है । यह काव्य तीन खण्डों अथवा तीन बड़े दृश्यों में विभाजित है - (1) यात्रा पर्व (2) स्वाहा-पर्व और (3) स्वर्ग-पर्व । इसमें निरूपित समस्या चिरन्तन है और इस कृति का कथ्य युद्ध के केन्द्र बिन्दु पर अवस्थित है ।' महा प्रस्थान' नरेश जी का ऐसा काव्य है, जो पाण्डवों के निर्वाण के कथानक को लेकर आधुनिक-बोध को वाणी देता है । अत: इसका कथा-तत्व पौराणिक है किन्तु कवि की वैचारिकता और आधुनिकता के कारण इसमें अनेक समस्याओं की प्रस्तुति समकालीन परिवेश की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत की गयी है । आलोच्य कृति सांस्कृतिक, राष्ट्रीय वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सभी दृष्टियों में मूल्यवान प्रतीत होती है ।

नरेश मेहता जिस युग में जी रहे हैं, युद्ध उसका सब से भयानक अनुभव है । इस शताब्दी में दो-दो विश्व महायुद्ध हुए । भयानक नर-संहार हुआ । परमाणु बमों से जापान के नागासाकी और हिरोशिमा को तहस-नहस कर दिया गया । आज के संसार की शक्ति का माप दण्ड इसी युद्ध-क्षमता से ही तो होता है । किसके पास कितने नर-संहारक अस्म है । अणुबम तो अब पुराना पड़ चुका है । कितने अधुनातन क्षेपास्त्र, आयुध आविष्कृत हो चुके हैं । बटन दबाकर मास्को या न्यूयार्क अथवा वाशिंगटन से सम्पूर्ण विश्व का विनाश संभव है । पूरी संस्कृति, सारी सभ्यता, पूरी मानव-जाति का सद्य: समूल विनाश संभव है - और है आज के मनुष्य के हाथों में । इतने बड़े विनाश की क्षमता से युक्त आज के मनुष्य के विवेक को कितना विराट् होना पड़ेगा - यही आज मानव- संस्कृति का सब से बड़ा प्रश्न है

कवि की मान्यता है और सत्य भी है कि युद्ध और राज्य -

व्यवस्था मानव-समाज के ऐसे दुर्भाग्य रहे हैं कि जिनसे मनुष्य अपना पीछा कभी नहीं छुड़ा पाया है । यह न केवल विषमता है, अपितु विडम्बना ही है कि मानव-संस्कृति और उसका इतिहास इनसे जूझता रहा है । अस्तु, इसका कथ्यांश महा भारतीय पुराख्यानक होते हुए भी प्रासंगिक है । इसमें आधुनिक -बोध का सम्यक निर्वाह हुआ है ।

इसका प्रथम खण्ड" यात्रा पर्व " है ।" यात्रा " पर्व बनती है आन्तरिक अर्थवत्ता के कारण, जीवन की सार्थकता की तलाश के कारण । डा० मीरा श्रीवास्तव के शब्दों में - " यह यात्रा जीवन की ज्वालाओं को झेलने के बाद हिम-पथ का आलम्बन करती है । सारा अशिवत्व झेल लेने के बाद आन्तरिक पथ खुलता है, जा शुरु में केवल" हिम " से आच्छादित दिखाई पड़ता है । यह हिम" शिव " का पर्याय प्रतीकृत होता है । वनस्पति, रस, गन्ध सब से हीन धरती की तपस्या का शिव-पथ । पर्वत शिव के हाथ जैसा ऊपर उठकर नभ में पृथ्वी सूक्त लिखा है -

" शिव की गौर प्रलम्ब भुजाओं सी
पर्वत मालाएं
नभ के नील पटल पर
पृथ्वी सूक्त लिख रहीं ।।"[1]

सांस्कृतिक-बोध" महा प्रस्थान " प्रबन्ध-काव्य की रीढ़ है। इस रीढ़ पर ही सम्पूर्ण काव्य का कलेवर आधृत है । सांस्कृतिक राग-बोध के पृष्ठाधार पर ही आलोच्य काव्य का समूचा प्रासाद खड़ा है । इस संबंध में स्वयं कवि का कथन है कि - " राम और श्रीकृष्ण भारतीय मानसिकता के अक्षांश और देशान्तर हैं तथा इन दोनों की द्युतिवाला आग्नेय विन्दु शिव है । पुराण सर्व धर्म के कथा-वस्त्र हैं । इन्हीं कथा-वस्त्रों में सज्जितकर धार्मिक सम्प्रदाय अपने इष्ट प्रस्तुत करते हैं । + + + + जहाँ तक श्रीकृष्ण का संबंध है, वह

1- आधुनिकता से आगे - नरेश मेहता - डा० मीरा श्रीवास्तव, पृ० 32

सर्वमान्य लीला पुरुष है । उनकी यह लीला उनके चरित्र निरुपण में विद्यमान है । श्री कृष्ण की कल्पना में चरित्र और मिथक का योग है । + + + वैदिकता को छोड़कर जैन, बौद्ध और स्वयं सनातन धर्म मिथकों में श्रीकृष्ण की परिकल्पना से अधिक विकसित दूसरा कोई मिथक नहीं ।"[1]

भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत "करुणा" है । उसी करुणा में युद्ध-भाव समाहित किया जा सकता है । हिंसा की प्रबल ज्वाला इसी करुणा-सरोवर में डुबो कर शान्त की जा सकती है । इस महा करुणा का तत्व "महा प्रस्थान" में जगह-जगह दृष्टिगोचर होता है । इस काव्य में युधिष्ठिर हिमालय-यात्रा के अन्तिम चरण में पहुंचकर भीम से कहते हैं -

" करुणा मेरा धर्म है भीम ।
किसी भी सम्बन्ध
साम्राज्य या शक्ति के सामने
मैं इसे नहीं छोड़ सकता ।"[2]

इसी करुणा में स्नात कवि की आत्मा अपने सृजन के लिए पाथेय जुटाती है । युधिष्ठिर अर्जुन से कहते हैं -

" व्यक्ति होगा
मानवीय वानस्पतिकता होगी और
उदात्त करुणा, प्रज्ञा होगी पार्थ ।"[3]

कवि ने युधिष्ठिर के व्यक्तित्व के केन्द्र में इसी "करुणा" को प्रतिष्ठित किया है । वह सब कुछ छोड़ सकते हैं, परन्तु करुणा को नहीं । यही हमारी भारतीय संस्कृति का प्राण-तत्व है । कवि ने इसे युधिष्ठिर के चरित्र में अनुस्यूत कर दिया है ।

1- महाप्रस्थान , पृष्ठ 18

2- महाप्रस्थान, पृष्ठ 99

3- महाप्रस्थान, पृष्ठ 137

व्यक्ति और समष्टि का जो स्वस्थतम सम्बन्ध नरेश मेहता की चिन्तन प्रक्रिया में उभर कर आया है, वह भारतीय अस्मिता एवं संस्कृति की केन्द्रीय पहचान है । युधिष्ठिर के मुख से कवि कहलाता है -

" फूल का एकाकीपन
अरण्य की सामूहिकता की शोभा है,
विरोधी नहीं । "1

इस सन्दर्भ में डा० राम कमल राय का कथन है कि -" व्यष्टि और समष्टि के इस अविरोधी स्वर को केवल भारतीय संस्कृति ही उभार सकी है और वह भी व्यक्ति के पूरे उन्नयन और विकास के साथ । इस देश की संस्कृति में व्यक्ति को जहाँ उसने अपने को अरण्यों में रचते हुए मानव-मुक्ति के सूत्रों का प्रणयन किया है उसे पश्चिमी दृष्टि से समझा ही नहीं जा सकता जहाँ व्यक्ति केवल समाज के शोषण का षड्यंत्र करता फिरता है ।"2

हमारी भारतीय संस्कृति" सत्य " को धर्म का मूल तत्व मानती है । हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि" न हि सत्यात् परोधर्मः " अर्थात् सत्य से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है । युधिष्ठिर इसी सत्य की शरीरबद्ध प्रतिमूर्ति है । युद्धोपरान्त वे प्रव्रज्या लेकर वल्कल पहने हुए, अपनी अतीत की स्मृतियों से आहत और आवेष्टित उसी" परम सत्य " का जीर्ण-शीर्ण संकल्प लिए हिमालय की ओर अग्रसर होते हैं । वे मानव से अति मानव की ओर अग्रसर होते हैं । श्री नरेश मेहता के अनुसार - हिमालय, संगीत, नृत्य, अनासक्ति, कल्याण, प्रलय आदि विश्वात्मा के प्रतीक हैं ।" हिमालय " के हिम-शिखर" देवतात्मा" सदृश है और कैलास शिखर" धर्म चक्र " है -

" ये उदार
देवतात्मा जैसे हिम - शिखर

\+ \+ \+

1- महाप्रस्थान, पृष्ठ 113

2- नरेश मेहता : कविता की ऊर्ध्वयात्रा - डा० राम कमल राय, पृ० 54

इस कैलास शिखर पर

रखा हुआ नक्षत्र - जटित

यह धर्म-चक्र -

नारदीय सूक्त सा ।'[1]

हमारी भारतीय संस्कृति इस समूची प्रकृति को 'ब्रह्म' मानती है हमारे उपनिषदों में कहा गया है कि 'खल्विदं सर्वं ब्रह्म' अर्थात् यह अखिल ब्रह्माण्ड उसी जगन्नियन्ता अव्यक्त ब्रह्म का प्रति रूप है । सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सभी उसी की अदृश्य शक्ति से परिचालित होते हैं । इसी चिन्तन को वाणी देता हुआ कवि कहता है -

' धर्म-चक्र यह -

झरते जिससे अहोरात्र

निशि-पल घट-घड़ियाँ

\+ + +

सूर्य चन्द्र, नक्षत्र, अपार ब्रह्माण्ड

सभी चक्रायित

प्रति चक्रायित इस काल चक्र में ।

एक सनातन प्रश्न

यज्ञ की धूमाली सा शाश्वत उठता -

है कौन नियन्ता

कार्य और कारण जिससे उद्भूत हो रहे ?'[2]

' हिमालय' होना शिवत्व को प्राप्त करना है । जब मानव व्यष्टि से समष्टि और फिर ऊर्ध्व यात्रा में समष्टि से प्रकृति (ब्रह्मनिष्ठ) बन जाता है, तब वह हिमालय हो जाता है क्योंकि काल या दोष का मूर्त या अमूर्त स्पर्श करने का तात्पर्य यह है कि शिव से पृथक् कुछ भी नहीं है -

---

1- महाप्रस्थान, पृष्ठ 39

2- महाप्रस्थान, पृष्ठ 39

" सत्य साची ।
प्रकृति से बड़ा
कोई व्यक्ति नहीं होता,
कोई शस्त्र नहीं पार्थ ।
जो प्रकृति के धर्म का भेदन कर सके । "[1]

हमारी भारतीय संस्कृति एवं शास्त्रों के अनुसार यह पांच भौतिक सृष्टि - पंच तत्वों क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीर - से निर्मित है । ये पंचतत्व अक्षत और शाश्वत है । कवि कहता है कि " हिम " अक्षत तत्व है -

" हिम, केवल हिम -
पौरानिक, विराट ऐकान्तिकता ।।"[2]

हमारी भारतीय संस्कृति प्रवृत्ति मूला न होकर निवृत्ति मूला है । जब मनुष्य सारी सांसारिक सम्पदा को त्याग देता है, तब वह ऊर्ध्व यात्रा में चला जाता है । यह मुक्ति का मार्ग है ।" यात्रा-पर्व " में महाप्रस्थान के समय पाण्डव-दल के पास" संकल्प " को छोड़कर कोई सम्पदा नहीं बचती । प्राण-जगत के धरातल पर व्यक्त जीवन के ऐन्द्रिय किन्नर गन्धर्व लोकों को या यक्ष देव लोकों को भी पीछे छोड़ना पड़ता है -

" किन्नर- गन्धर्व और यक्ष-देव के सोपानों से ही
जाना होता ऊर्ध्व लोक में,
\+ + +
पाण्डव-दल के पास
नहीं कुछ अन्य सम्पदा
मृत्यु लोक की ।।"[3]

" काल-पुरुष "," नभ-गंगाओं "," प्रकृति "," प्रणव "" अवधूत-भाव" आदि

1- महाप्रस्थान, पृष्ठ 103

2- महाप्रस्थान, पृष्ठ 37

3- महाप्रस्थान, पृष्ठ 38

शब्दावली -- हमारी वैदिक सांस्कृतिक राग-बोध को व्यंजित करती है । कवि कहता है कि उत्थान-पतन-जय-पराजय, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वात्मक अनुभवों का चक्र एक सनातन प्रश्न बनकर प्रवाहित होता है । नियन्ता कौन ? मनुष्य ? नहीं । यह " काल-तत्व " या " काल-पुरुष " है । अनन्त दिशाओं में सोया अनादि शब्द पुरुष जो घटनाओं को बाघम्बर की तरह धारण करके धर्म-चक्र का अभिलेख नभ-गंगाओं में खोलता है । इस काल पुरुष का - साक्षात्कार होता है " अवधूत - भाव " में -

" जो अनन्त आकाशों में शायी है,
वह काल पुरुष-
जो प्रणव-रूप
धूमाग्नि पी रहा ?
नक्षत्रों की दहन राशियां
अवधूत-भाव से
घटनाओं का बाघम्बर धारे
है घूम रहा
कोटि नभ-गंगाओं की धुरियों पर
इस धर्मचक्र को ? "[1]

कवि का वैष्णव-व्यक्तित्व द्रौपदी को कृष्ण के प्रति आसंग भाव में देखता है । कृष्ण से जुड़कर ही कृष्णा अपनी सार्थकता अनुभव करती है -

" होती तुलसी ही
पर
क्यों हुई पृथक
मैं कृष्ण अपने भाव-कृष्णा से ? "[2]

कवि की भारतीय अस्मिता बार-बार जग उठती है और वह समस्त हिम प्रकृति में सृष्टि का अनादितत्व साकार देखने लगता है --

1- महाप्रस्थान ,पृष्ठ 40
2- महाप्रस्थान,पृष्ठ 67

"केवल यहाँ अपर्णा पावती ही जाग्रत है
चन्द्रचूड इस हिम शिवाङ्क में ।।"[1]

प्रकृति -पुरुष का यह प्रशान्त निमज्जन सारी मानवी-प्रकृति और निसर्ग को अपने में समेट कर यात्रा का आमंत्रण देता है - निर्जनता हिमाँधियों, पाथरी ऐकान्तिकता के बावजूद ।

हमारे यहाँ पातन्जलि-योग-दर्शन " में कहा गया है कि - " ~~सलेसकेस~~ " योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: " अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोककर एकाग्र कर लेना ही " योग " है । जब मन ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतम स्थिति पर पहुंचता है, तब वह निचली वृत्तियों को कुत्ता की छाल सा उतार कर " धर्म " वहन कर सकने में सक्षम होता है । वह अग्नि-सा तेजो दीप्त हो उठता है ।" स्वाहा-पर्व " में युधिष्ठिर द्रौपदी से इसी स्थिति का निरुपण करते हुए कहते हैं -

" एक और ऊँचाई होती है कृष्णा ।
जहाँ यह मन भी
कुत्ता छाल सा उतार देना पड़ता है
धूम्रवस्त्रों का परित्याग कर
ताम्र वर्णी अग्नि
जैसे आकाश में यज्ञ वहन करती है
वैसे ही मन
सम्बन्ध-हीन, अवाध, यांत्रिक हो
धर्म वहन करता है ।"[2]

" महाप्रस्थान " की सांस्कृतिक -चेतना को इंगित करती हुई डा० मीरा श्रीवास्तव ने उचित ही लिखा है कि -" प्रभु,योगी "," निर्वेद ",आकाश" `आगत", ` देवताओंवाली आश्वस्ति " कुछ ऐसे शब्द और इनसे जुड़े मुहावरे हैं, जो आधुनिकता का जप करनेवाले के लिए उबकाई पैदा करते हैं । + + + लेकिन

1- महाप्रस्थान, पृष्ठ 37

2- महाप्रस्थान,पृष्ठ 73 (स्वाहा-पर्व)

नरेश मेहता धृष्टतापूर्वक उन्हीं भारतीय परिवेशवाले अस्मितावाले पुराने शब्दों को आमंत्रित करते हैं । + + + अग्नि का ताम्रतेज ही भारतीय अस्मिता[1] की आधुनिकता है, विज्ञान के सन्दर्भों में नवीन उपलब्धि है ।"

हमारे यहाँ वेद, वेदांग, उपनिषद् एवं स्मृतियाँ आदि ही भारतीय संस्कृति के आधार - स्तम्भ है ।" याज्ञवल्क्य-स्मृति " में मुनि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को आध्यात्म का ज्ञानोपदेश देते हुए कहते हैं कि --" आत्मज्ञ एवं सर्वज्ञ: " अर्थात् आत्मज्ञानी ही सर्वज्ञ होता है । आत्मा सूक्ष्म तत्व है । जब मनुष्य सारी सांसारिकता का परित्याग कर देता है और पूर्णत: अनासक्त हो जाता है तब वह आत्म-तत्व या सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व को जान पाता है । युधिष्ठिर द्रौपदी को समझाते हुए कहते हैं कि हिमपथ हमें हिमालय " पर ले चलता है, जो" आत्मा " है -

" सारे वर्ण- गंध
जब मन पर से भी उतर जाते हैं
तब अन्तर के
देवात्मा हिमालय की
श्वेत-देव-भूमि जाग्रत होती है कृष्णा ।
निर्भय होना ही हिमालय होना है,
और अनासक्ति ही स्वर्ग है,
हिमालय ही आत्मा है ।"[2]

युधिष्ठिर प्रिया कृष्णा के भीतर इसी" श्वेत-देव-भूमि " की निर्भय आत्म-चेतना जगाना चाहते हैं । इसलिए उसे बार-बार प्रेरित करते हैं ।

हमारी भारतीय संस्कृति में" आश्रमचतुष्टय " अर्थात् चार आश्रमों का वर्णन अथवा उपक्रम है -- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास । कवि नरेश मेहता नए कवियों में भारतीय संस्कृति के पुरोधा हैं । वे युधिष्ठिर के

1- आधुनिकता से आगे : नरेश मेहता - डा० मीरा श्रीवास्तव, पृ० 47

2- महाप्रस्थान, पृ० 81-82

माध्यम से अपनी सांस्कृतिक -निष्ठा को अभिव्यक्त करते हुए कहलाते हैं -

" मैंने मात्र शास्त्र-व्यवस्था के कारण ही
वानप्रस्थ नहीं स्वीकारा
परन्तु
यह मेरी वैचारिकता का निष्कर्ष था बन्धु ।।"[1]

सांस्कृतिक वस्तुओं से हीन होते जाना और व्यक्तित्व से सम्पन्न होते जाना ही आधुनिक " वानप्रस्थ " है ।" वस्तु " का परित्याग पुराना सन्यास है जो मध्यकाल में भारतीय अस्मिता को दूसरे ढंग से बुझाने का कारण बना ।

हमारी प्राचीन संस्कृति में" दान-दक्षिणा" की व्यवस्था शास्त्र विहित है । जो" सत्ता " एवं" स्वत्व" का आकांक्षी नहीं होता, वही "प्रज्ञाग्नि " को प्राप्त कर सकता है । प्रज्ञावान युधिष्ठिर" वैश्वानरी व्यक्तित्व " को राज्य से अधिक महत्व देकर उसका" स्वाहा-पर्व " सम्पन्न करना चाहते हैं । सन्तप्त मानवता इसी प्रज्ञाग्नि की खोज में है । यही एक मात्र" दक्षिणा" है, जिसे बुद्धिजीवी नहीं, प्रज्ञावान् व्यक्तित्व समाज को अर्पित कर सकता है । युधिष्ठिर ,अर्जुन से इसी रहस्य का उद्घोटन करते हुए कहते हैं -

प्रज्ञा ही एकमात्र दक्षिणा है पार्थ ।
जो कि इस सन्तप्त मानवता की
उसके स्वाहात्व के लिए[2]
तुम दे सकते हो ।"

" स्वाहा"," होम "," अहोरात्र "," अभिषेक "," ज्वाला ", अग्नि " आदि वैदिक शब्दावली के प्रयोग के माध्यम से कविवर नरेश मेहता अपनी सांस्कृतिक निष्ठा को अभिव्यक्त करते हुए युधिष्ठिर के द्वारा कहलाते हैं -

" अग्नि के इस आरात्रिक अभिषेक को
जब व्यक्ति
अपने स्वत्व में स्वीकार लेता है पार्थ ।

1- महाप्रस्थान,पृष्ठ 105

2- महाप्रस्थान,पृष्ठ 114

तब वह पार्थिव हो जाता है

\+ + +

अपने भीतर के इस स्वाहा भाव की

यात्रा ही

सव्यसाची ! स्वर्गारोहण है ।"[1]

हमारी भारतीय संस्कृति की मान्यता है कि इस पार्थिव-सृष्टि की संरचना एवं मानव-शरीर की रचना" पंचतत्वों" द्वारा हुई है । इन पंचतत्वों के समाप्त होने पर (निकल जाने पर) देह का अस्तित्व समाप्त हो जाता है । अर्जुन, भीम आदि सारी पाण्डवता इसी पंचतत्व के प्रतीक है । इनके नष्ट हो जाने पर ही ऊर्ध्व-चेतना संभव होती है । युधिष्ठिर में प्रज्ञाग्नि है । अस्तु, उनके अतिरिक्त" स्वाहा-पर्व " में पार्थिवता के सारे तत्व नष्टहो जाते हैं --

" पंचतत्व की भाँति

यह पाण्डवता

अब अन्तिम रूप से

विघटित होने को है भीम ।"[2]

भारतीय संस्कृति" प्रकृति और पुरुष " रूप में सनातन से " सृष्टि तथा ईश्वर " को मानती चली आई है । प्रकृति को" विश्वम्भरा " और ईश्वर को" विश्वम्भर " मानकर दोनों का दाम्पत्य सम्बन्ध स्वीकारती है । यही विचार-बोध युधिष्ठिर में प्रतिष्ठित किया गया है । वे (युधिष्ठिर) जानते हैं कि अपने दिगम्बर व्यक्तित्व में शिव भी सृष्टि से रहित नहीं है । " श्वान " सृष्टि का प्रतीक है । श्वान को संबोधित करके युधिष्ठिर कहते हैं --

" तुम्हें लौट जाने के लिए कहना

सृष्टि को लौट जाने के लिए कहना होगा,

और बिना सृष्टि के तो

स्वयं ईश्वर भी नहीं है ।"[3]

1- महाप्रस्थान,पृष्ठ 125

2- वही,पृ0 129-130

3- वही, पृ0 133-134

भारतीय संस्कृति' रात्रि के तृतीय प्रहर ' की प्रज्ञाग्नि के स्तवन ' का समय मानती है । ऋषि-मुनि एवं तपस्वी इसी प्रहर में ' ईश्वरोपासन में संलग्न होते हैं । वैदिक चेतना इसे' ब्रह्म-वेला ' का स्वर्गीय-काल मानती है । इसी सांस्कृतिक -बोध से प्रेरित होकर कवि ने' स्वर्ग-पर्व ' का शुभारम्भ रात्रि के तृतीय प्रहर के आकाश से किया है ।रात्रि के इस प्रहर में ही प्रज्ञा का असली रूप जाग्रत होता है —

' रात्रि के इस प्रहर में
तुम्हारे तपस्वी नेत्रों में
सारस्वत जाग्रत है
देवी के चरण-स्पर्श से
हिमालय वेद हो गया है
माँ ।[1] '

यही वैदिक चेतना है जो' प्रज्ञाग्नि के स्तवन ' से उद्भूत होती है । रात्रि के तृतीय प्रहर के काल-बोध में यह स्वर्ग-बोध जाग्रत होता है,क्योंकि उसके भीतर सनातन सूर्योदय का रहस्य अवगुंठित है, परन्तु अवश्यम्भावी । प्रत्यूष अनिवार्य है । उसी से जीवन-यज्ञ पूर्ण होता है । साधारण व्यक्ति या आधुनिक मानव ने रात्रि के दो प्रहरों का ही साक्षात्कार किया है — इसी कारण उसे महाभारत और उसकी परिणतियों को देखना पड़ा है । युधिष्ठिर प्रज्ञा पुरुष है, सारी सांसारिक यात्राओं, विडम्बनाओं को झेले हुए है, स्वाहा हुए, इसीलिए उन्हें मानवी-चेतना का सूर्योदय दिखाई देता है ।

' पूर्व दिशा में
इस काल पुरुष का
हवि के लिए हाथ उठ चुका है ।
प्रत्यूष की इस ब्राह्मणी को
यज्ञ सम्पन्न करने दो ।[2] '

1- महाप्रस्थान- स्वर्गपर्व, पृष्ठ 137

2- वही , पृ० 141

यहाँ प्रत्यूष रूपी ब्राह्मणी द्वारा जीवन का यज्ञारम्भ हमारी भारतीय सांस्कृतिक चेतना की देन है । यही "पूर्व" का आधुनिकता को योगदान है जो पाश्चात्य आधुनिकता को पीछे छोड़ देता है । हमारा "पूर्व" का "दर्शन" (भारतीय दर्शन) भ्रम, छल, या धोखा नहीं है, यह प्रज्ञायात्रा का अन्तिम पर्व है । कष्टकर मानव व्यक्तित्व के गढ़न की दुर्विचार यात्रा युधिष्ठिर पूर्व के वैश्वानर व्यक्तित्व है । वे अपना देह-बोध त्यागकर हिमालय का हिमगान सुनते हैं । ब्राह्म मुहूर्त उनके अन्दर काल वीणा पर "प्रणव" झंकृत करता है । एक अत्यन्त निर्विकार रागात्मक सम्बन्ध का बिम्ब प्रस्तुत करते हुए कवि हिम-बोध को उजागर करता है -

" हिम -
शिव की गोद में
पार्वती की देवाली
सारस्वत वीणा है ।
सुनोगे युधिष्ठिर इसका गान ?
आकाश और पृथिवी की गंगाओं में
ब्राह्म मुहूर्त का यह
तेजस्वी आकाश
इसके स्वरों से झंकृत होकर
प्रणव हो गया है ।"[1]

हमारे यहाँ भारतीय संस्कृति में "हिमालय" देवताओं की मूर्त देह जैसा माना गया है । महाकवि कालिदास ने "कुमार सम्भव"[2] काव्य में लिखा है - "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयः" कविवर नरेश मेहता उसी भारतीय सांस्कृतिक राग-बोध से प्रेरित - प्रभावित होकर लिखे हैं —

" कभी देखी है युधिष्ठिर
इससे अधिक

1-" महाप्रस्थान ", पृष्ठ 142
2-" कुमार सम्भवम् "-कालिदास श्लोक 1 (प्रथम सर्ग)

देवताओं की देह-वर्ण सी

जाज्वल्य पवित्रता ?

" महाप्रस्थान " अन्ततः " स्वर्ण रोहण-पर्व " में मानव-मुक्ति का सन्देश देता है । हमारी भारतीय संस्कृति में " पुरुषार्थ चतुष्टय " में अन्तिम पुरुषार्थ " मोक्ष " है । यही मानव जीवन का चरमोद्देश है । संस्कृत साहित्य में कहा भी गया है -" सा विद्या या विमुक्तये " अर्थात् विद्या वही सार्थक है, जो मुक्ति के लिए मार्गदात्री हो । मानव को मुक्ति तभी संभव है, जब वह युधिष्ठिर की तरह संपूर्ण राज्य-वैभव का परित्याग करके हिमाच्छादित हिमालय के उन्नत शिखर पर जाकर सारी भौतिकता का त्याग कर दे । युधिष्ठिर कहते हैं --

" कैसा है यह मुहूर्त
आकाश के पूर्व शिखरों पर खड़ा
प्रत्यूष -
दक्षिणावर्त्य शंख फूंक रहा है ।
बन्धु । श्वान
आ गया
स्वर्ग का द्वार आ गया ।।"[1]

उदात्त एवं शाश्वत -मानव-मूल्यों में आस्था भारतीय संस्कृति की आधारभूत विशेषता है । हमारे विभिन्न शास्त्रों में इन " मानव-मूल्यों " की महत्ता तथा अर्थवत्ता वर्णित है । यथा --

1-" परोपकाय सतां विभूतय: "
2-" अहिंसा परमो धर्म: "
3-" नहिं सत्यात् परो धर्म: "
4-" शील वै सर्वस्य भूषणम् "

आलोच्य खण्ड काव्य " महाप्रस्थान " का " मूल्यान्वेषण " प्रेरक बीज है । कवि ने करुणा, त्याग, प्रेम, सत्य, धर्म, न्याय, मानवतावाद आदि

1- महाप्रस्थान, पृष्ठ 143-144

उदात्त मूल्यों की प्रस्तुत काव्य में अवतारणा की है । युधिष्ठिर के मुख से कवि ने यत्र-तत्र इन मूल्यों की चर्चा की है -

" करुणा मेरा धर्म है भीम । "

+ + +

धर्म के मूल्य पर

मैं स्वर्ग भी अस्वीकार कर सकता हूं भीम । "[1]

" न्याय " नामक मूल्य के महत्व पर प्रकाश डालते हुए युधिष्ठिर अर्जुन से कहते हैं —

" अन्याय के अभ्यस्त वे

नहीं जानते कि

"न्याय " भी कुछ होता है । "[2]

" मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य " आध्यात्मिक मूल्यों " की प्राप्ति है ।" अमरता की प्राप्ति भारतीय मनीषा की जिज्ञासा रही है । इसीलिए सांसारिक वैभव को तुच्छ एवं त्याज्य माना गया है । कठोपनिषद " में नचिकेता यमराज के सांसारिक वैभवों के प्रलोभन देने पर कहता है - " न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः " अर्थात् धन से मनुष्य की तृप्ति संभव नहीं है ।" महाप्रस्थान " काव्य में युधिष्ठिर भी भौतिक यश-वैभवादि को मिथ्या बताते हुए अर्जुन से "अमरता " की उपलब्धि की ओर संकेत करते हैं —

" ये दुर्ग, प्रासाद ,स्मृति-भवन,

चारण- प्रशस्तियां

ये झूठे इतिहास वाले शिलालेख

व्यक्ति को अमरता देंगे ?

पार्थ ।

जड़ जड़ का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है

चेतन का जड़ नहीं ।"[3]

1- " महाप्रस्थान ", पृष्ठ 99 (2) महाप्रस्थान, पृ० 107

3- महाप्रस्थान, पृ० 106

नरेश मेहता ने " व्यक्ति-मूल्य " को राजनीति की अपेक्षा महत्व देते हुए कहा है कि किसी भी " धर्म " का उत्स राज्य में नहीं व्यक्ति की बुद्धि में होता है । इस प्रकार के वैश्वानरी व्यक्तित्व को हर प्रकार से अधिक महत्व देना आवश्यक है --

" धर्म का उत्स
राज्य में नहीं
व्यक्ति की प्रज्ञा में होता है ।
ऐसे वैश्वानरी व्यक्तित्व को
कैसे ही राज्य से अधिक महत्व देना होगा पार्थ ।"[1]

इस प्रकार कवि ने राज्य की अपेक्षा व्यक्ति की गरिमा को विशिष्टता प्रदान की है ।

" धर्म " के पश्चात दूसरा पुरुषार्थ अर्थ " हमारे भारतीय शास्त्रों में माना गया है ।" अर्थ " का सामान्य तात्पर्य भौतिक सुखों और आवश्यकताओं की पूर्ति है । प्राचीन विद्वानों एवं शास्त्रकारों के मतानुसार पुरुषार्थ के सन्दर्भ में अर्थ " का तात्पर्य उन पार्थिव वस्तुओं से है जिनकी गृहस्थी चलाने तथा धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करने में आवश्यकता पड़ती है । अनेक विद्वानों ने अर्थ " को जीवन-मूल्यों में अनिवार्य मूल्य स्वीकारा है । और कुछ ने इसे आवश्यक मानकर" साधन मूल्य " माना है -" धन मनुष्य का समीपस्थ सम्बन्धी है । धन से ओज, विश्वास तथा सत्ता प्राप्त होती है - निम्नवंशी धनवान् को आदर मिलता है जबकि उच्चवंशी धनहीन को निरादर की दृष्टि से देखते हैं । निर्धनता अभिशाप है और मृत्यु से भी बुरी है । बिना धन के सद्गुण भी बेकार हो जाते हैं । धनहीनता सभी बुराइयों की जड़ है ।"[2]

हमारे प्राचीन भारतीय संस्कृत ग्रन्थों में भी " अर्थ " की महत्ता का यशोगान किया गया है । यथा --

---

1- महाप्रस्थान, पृ० 98

2- वी०जी०गोखले - इंडियन थ्रू द एजेज, पृष्ठ 51-52

1- " यस्यास्ति वित्त स नरः कुलीनः "

2- " सर्वेगुणाः कान्चनमाश्रयान्ति "

3- पुरुषो हि अर्थस्य दासः "

4- " अर्थ जगतः मूलमन्त्रम् आदि-आदि ।।

इस बात को प्रस्तुत ग्रन्थ में नरेश मेहता ने युधिष्ठिर के द्वारा स्पष्ट कराया गया कि किस प्रकार शास्त्रों को प्रकाण्ड पण्डित यशस्वी द्रोणाचार्य अपने दारिद्रय से दुःखी होने के कारण कौरवों के वशीभूत हो गए। इस असंगति के मूल में धन " ही था। एकमात्र सन्तान दूध के एक घूट के लिए तरस रही हो, तो अर्थाभाव से ग्रस्त पिता का मन कितना व्यथित हुआ होगा। ऐसी विवशताएं सारे आदर्श एवं पाण्डित्य को कुण्ठित कर देती हैं --

" समस्त शास्त्रज्ञाता
पाण्डित्य और तेजस्विता के बाद भी
यशस्वी द्रोणाचार्य
अपनी एकमात्र संतान को
दूध तक न उपलब्ध करा सके।
कल्पना करो उस हाहाकार की पार्थ।
जब पुत्र
आटे को ही
दूध समझकर पीता रहा होगा
तब उस विवश पिता के मन पर
क्या बीतती रही होगी अर्जुन
असीम प्रतिभा
लेकिन घोर दारिद्रय
इसके लिए कौन उत्तरदायी है पार्थ। "[1]

नरेश मेहता ने इस अव्यवस्था के लिए " राज्य " को दोषी एवं उत्तरदायी माना है। धनाभाव के कारण ही द्रोणाचार्य जैसे मूर्धाभि

1- महाप्रस्थान, पृष्ठ 106-107

विद्वान एवं स्वतन्त्र चेता की आहुति दी गयी और विदुर सदृश प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति को उपेक्षित रहना पड़ा । आज के सन्दर्भ में तो " अर्थ " का सर्वोपरि महत्व हो गया है क्योंकि वर्तमान युग " अर्थ-युग " ही हो गया है । आज तो " बिना अर्थं सर्वं व्यर्थम् " का उद्घोष हो रहा है ।

मानवतावादी - जीवनादर्श : - " मानवतावाद " हमारी भारतीय संस्कृति का उच्चादर्श है ।" महाभारत " में कहा गया है कि " न हि मानवात् श्रेष्ठतरो हि कश्चित् " अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठतर कोई नहीं है । मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। रवीन्द्र नाथ मुकर्जी के शब्दों में --" कोई भी अन्तिम शक्ति नहीं है, परन्तु मानवता एक परम वास्तविकता है । महामानव वास्तव में जीवित ईश्वर है । हमें किसी धर्म विशेष का नहीं, इस महामानव का पुजारी होना चाहिए । यही मानव का धर्म है ।"[1] इसी तथ्य की अभिव्यक्ति " महाप्रस्थान " में नरेश मेहता ने युधिष्ठिर के द्वारा कराई है । युधिष्ठिर कहते हैं --

" किसी भी व्यवस्था का
व्यक्ति से बड़े हो जाने का अर्थ होगा
अमानवीय तन्त्र ।।"[2]

" कर्तव्य-बोध " हमारी संस्कृति का प्राण तत्व है । राष्ट्र अथवा देश-प्रेम कर्तव्य की महत्ता पर आधारित है । पाश्चात्य विचारक काण्ट ने भी कर्तव्य को जीवन का परम मूल्य माना है । कई बार मानवता की रक्षा के लिए युद्ध भी धर्म हो जाता है । इसी तथ्य का युधिष्ठिर स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

" एक तात्कालिक धर्म भी होता है -
कर्तव्य ।
जब युद्ध कर्तव्य हो गया
तो अनासक्त होकर
वह भी किया ।"[3]

1- सामाजिक विचारधारा - काँटे से गाँधी तक - रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, पृ० 86 (सं० 1965)

2- महाप्रस्थान, पृ० 112

3- वही, पृ० 88

कवि के मानवतावादी दृष्टिकोण के सन्दर्भ में श्री प्रभाकर शर्मा ने अपने विचारों को अभिव्यक्ति करते हुए उचित ही लिखा है कि - " नरेश मानवतावादी कवि है । उनके मानवतावाद की सीमाएं यहां से वहां तक, राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय सीमा तक फैली हुई हैं । मेहता ने पूरी आस्था के साथ मनुष्य को पहचाना है, उसके मानवीय सन्दर्भों को स्वीकारा है और तत्पश्चात लोक-मंगल और सांस्कृतिक सन्दर्भों में अपने मानवतावाद को प्रस्तुत किया है ।"[1]

कवि ने अपनी धर्म अस्मिता को साकार करने और भारतीय संस्कृति के प्रति रागात्मकता रखने के कारण ही चिर-परिचित ग्रहों-राशियों का संयोजन करके, विराट काल तत्व को मूर्तिमान किया है --

" मेष राशि जिसका ललाट
उस काल पुरुष का
वृष मुख-मण्डल
कर्क हृदय है
मिथुन राशि उसका वक्ष स्थल

+ + +

प्रणव पुरुष
विकराल मकर जघनों से मथता
दिशा-काल की महा अरणियां,
जाग्रत होता जिससे
विधु-पुरुष
यह वैश्वानर
जो धर्म-चक्र को वहन कर रहा
धर्म वृषभ-सानन्दी बनकर ।।"[2]

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि " महाप्रस्थान " खण्डकाव्य में " महाभारत वेद, पुराण आदि के मिथकीय प्रयोगों द्वारा कवि ने भारतीय संस्कृति का एक बृहद फलक पर चित्रांकन किया है । इस काव्य का चक्र सांस्कृतिक धुरी पर ही परिचालित होता है ।

=========

1- नरेश मेहता : विमर्श और मूल्यांकन - श्री प्रभाकर शर्मा, पृ० 41

* प्रवाद - पर्व *

नरेश मेहता के चारों प्रबन्ध काव्यों की आधार भूमि पौराणिक है । इसीलिए उन्होंने चारों काव्यों का कथानक प्राचीन भारतीय पौराणिक आख्यानों से ग्रहण किया है । उनकी मूल चिन्ता संस्कृति की शोध है । यदि भारतीय संस्कृति में जहां तहां धुन लग गए हैं, तो उसे निर्विकार बनाने की भी उन्हें उतनी ही व्याकुलता भी है । इस सन्दर्भ में वे अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं - " कई बार मुझे लगता है कि इस देश, जाति, संस्कृति और सभ्यता की ऐसी प्रदीर्घ अस्मिता-हीनता का क्या कारण है ? वेद, उपनिषद,उन्नत दर्शन , सम्प्रदाय, प्रशान्त आकर ग्रन्थ पुष्कल सद्ग्रन्थ, सन्तों- महात्माओं की अक्षुण्णा परम्परा के होते हुए भी यह देश क्रमशः अस्मिताहीन ही कैसे हो गया ?"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने यह चिन्ता अतीव गहराई से अभिव्यक्त हुई है । भारतीय संस्कृति के विकास क्रम में जो अनेक विकृतियां आती गयी हैं, नरेश जी उनको लेकर बहुत चिन्ता कुल रहे हैं । वैदिक संस्कृति को पौराणिकता ने जिस प्रकार संशोधित - परिवर्द्धित किया है, उस पर भी उनकी पूर्ण सहमति नहीं है । उनकी दृष्टि में जहां पुराणों ने राम और कृष्ण के मनुष्य रूप को ईश्वर त्व प्रदान करके एक नयी भागवत भक्ति की परंपरा का शुभारम्भ किया, वहीं उन्हीं पुराणों ने सर्वमान्य एवं सर्व प्रमुख देवता" इन्द्र " के चरित्र को अतःपतित करने की दुरभि सन्धि की । इन्द्र के साथ किया गया यह अतिचार संस्कृति के निर्मल वैदिक प्रवाह को कई अर्थों में दारित करता है । नरेश जी ने इस सन्दर्भ में लिखा है - " वेद में जो विष्णु एक गौण देवता है, उनकी वैदिक वामनता को पुराणिकों ने विराटता में परिणत कर दिया । विष्णु को ऐसी प्रमुखता मिलने में निश्चय ही इन्द्र बाधक हो सकते थे । अतः जिस रूप में जिस भाषा में और जिस कृतघ्नता के साथ इन्द्र को विष्णु के महाभिषेक में बलि पशु बनाया गया, वह नितान्त जघन्य कृत्य था ।"[2]

1- महाप्रस्थान - भूमिका, पृ० 24

2- वही , पृ० 22

इस प्रकार हम देखते हैं कि नरेश मेहता की पौराणिक दृष्टि अन्धी स्वीकृति न होकर, मूल्यान्वेषी है । वे मूल्यान्वेषण की चेष्टा में समस्त सांस्कृतिक चेतना के विकास को उनके अन्तर्विरोधों के साथ देखते हैं तथा उसके स्वस्थ पक्ष को ही स्वीकारते हैं ।

नरेश मेहता के व्यक्तित्व में औपनिषदिकता और वैष्णवता का अपूर्व संगम है । उनकी काव्यात्मकता में ये दोनों एकी भूत हो जाते हैं । मेहता जी का कवि-व्यक्तित्व पूरी आर्षचिन्तनशीलता में डूबा हुआ है । उनकी सम्पूर्ण शब्दावली उसी आर्ष-परम्परा से संस्कारित हुई है ।

नरेश जी का काव्य एक सर्वथा नयी दिशा की खोज है । वैष्णवता एवं उदात्तता से परिपूर्ण मंगलाकांक्षिणी दिशा की खोज है । प्रवाद-पर्व ' खण्ड काव्य 1977 ई० में प्रकाशित हुआ । इसमें कवि ने समकालीन परिस्थितियों में निहित तथ्यों की खोज पौराणिक कथा ' राम-वृत्त ' में की है । प्रत्येक रचना अपनी समकालीनता के दबावों से ही स्वरूपित एवं उद्भूत होती है । ' प्रवाद-पर्व ' में कवि ने लोकतत्व बनाम राजतन्त्र या व्यक्ति और प्रशासन की समस्या पर प्रश्नचिन्ह लगाया है । यह खण्ड-काव्य पांच सर्गों में विभाजित है । प्रथम सर्ग में इतिहास और प्रति इतिहास का विश्लेषण - विवेचन किया गया है । रावण के बध के बाद राम अयोध्या तो आ जाते हैं - शासन भार ग्रहण करते हैं । राजा बनकर सिंहासनासीन तो हो जाते हैं किन्तु उनकी प्रजा का एक साधारण ' धोबी ' सीता की चरित्र-मर्यादा पर अंगुली उठा देता है । राज्य-व्यवस्था के नियमानुसार उसे अपराधी, अनुत्तर दायित्वपूर्ण एवं राज द्रोही करार किया जाता है । राम सीता के कारण होनेवाले ' लोकापवाद ' से उद्विग्न हैं । रात की उद्विग्नता इस बात को लेकर है कि कर्म के इस तटस्थ भागवत-अनुष्ठान से कोई मुक्ति संभव क्यों नहीं है ? राम के मानस में यही से वह प्रश्न उभरता है, जो एक साधारण जन की अवाम तर्जनी के कारण बहुत बड़ा प्रश्न हो गया है । राम की राजसी-गरिमा और चरित्र-मर्यादा कोई अवाम धोबी भी संकेतित करे, तो वह राम की दृष्टि में उसका

अधिकार है किन्तु राज्य के नियमानुसार वही गम्भीर अपराध है । इसी ऊहा-पोह या विवाद का अभिव्यंजन इस खण्ड में हुआ है । इसी विवाद को हल करने के प्रयत्न में कवि ने अनेक प्रश्न और भी उठाए हैं ।' व्यक्ति-स्वातन्त्र्य', 'अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य ' और इसी प्रकार के विविध प्रश्नों से जूझता हुआ ' व्यक्ति और प्रशासक के सम्बन्धों पर भी विचार प्रस्तुत कर सका है ।

' उदारता ' एवं ' सत्य ' जैसे शाश्वत मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का महत्व हमारी भारतीय संस्कृति का मूलाधार है । संस्कृत-साहित्य में कहा गया है -

' उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् '

' सत्य ' नामक मूल्य की महत्ता को दर्शाते हुए कहा गया है कि - सत्यमेव जायते नानृतम् ' । इस प्रकार आलोच्य खण्ड काव्य में ' सत्य ' को सर्वोपरि मूल्य मानते हुए काव कहता है -

' व्यक्ति
चाहे वह राज पुरुष हो या
इतिहास पुरुष अथवा
पुराण-पुरुष
मानवीय देश-कालता से ऊपर नहीं होता राम ।
इतिहास से भी बड़ा मूल्य है
सत्य --
परात्पर सत्य, ऋत --
और
यही तुम्हारी चरित्र-मर्यादा है
ऋतम्भरा व्यक्तित्व है । '[1]

1- ' प्रवाद पर्व ' ,पृ० 35

या इन्द्र की -

जिसे प्राप्त करने के लिए

अनन्त काल से सप्तर्षि

यात्रा तपस्या में लीन है । '[1]

' परम-सत्ता ' या ' अव्यक्त महाशक्ति ' में हमारी भारतीय संस्कृति सनातन काल से विश्वास व्यक्त करती चली आ रही है । वह ' जगन्नियन्ता सर्वोपरि है । कवि उसी महासत्ता की ओर इंगित कर रहा है --

' लेकिन किसका ?

कौन है वह

अपौरुषेय

जो समस्त पुरुषार्थता के अश्वों को

अपने रथ में सन्नद्ध किए हैं ?

कौन है ?

वह कौन है ? '[2]

राम की मन:स्थिति का अंकन करते हुए कवि ने यह स्थापित किया है कि ' सत्य की अभिव्यक्ति ' का श्रेय मात्र राज पुरुषों और इतिहास पुरुषों को ही नहीं होता, उन साधारणजनों को भी होता है जो अनाम होकर जीते हैं । सत्य मानवीय- सत्य की रक्षा का हेतुक बनकर आनेवाला इतिहास ही मानवीय सत्य का प्रतिनिधि होता है । इस स्थिति की व्यंजक कतिपय पंक्तियाँ उल्लेख्य हैं --

' तर्जनी वह किसी की भी हो,

वाणी ही होती है ।

\+ + +

इतिहास भी आग होता है,

और आग पर कोई और नहीं

1- प्रवाद पर्व, पृ० 21

2- वही, पृ० 20

केवल पिपीलिका ही चल सकती है ।
संज्ञा-हीन पिपीलिका ।।

\+ + +

क्या चरित्र,
क्या अधिकार,
केवल राज पुरुषों या
इतिहास-पुरुषों के ही होते हैं ?
अनाम साधारण जन के कुछ नहीं होते राम ।"

इसी मानवीय सत्य की प्रतिष्ठा की अनुभूति के कारण राम विविध प्रश्नाकुलता के बावजूद उस अनाम धोबी के वाणी विहीन प्रति इतिहास के समक्ष अपनी ऐतिहासिकता की परीक्षा देना चाहते हैं —

इतिहास को,
मानवीय अभिव्यक्ति का
औपनिषादिक पद दो,
व्यक्ति मात्र को
इतिहास से परिधानित होने दो
इतिहास -
मानवीय विष्णु की कण्ठश्री
वैजयन्ती है ।"[1]

राज्य या शासन तन्त्र पर साधारण जन की तर्जनी सर्वदा अंकुश लगाती रही है । इस सन्दर्भ में डा० राम कमल राय का कथन है कि - " राज्य जब जब एकाधिकारवादी बनता है, उसे सदा से ही यही साधारणजन अपनी अनाम तर्जनी उठाकर चुनौती देता रहा है और यह चुनौती सदा से ही शक्तिमती सिद्ध होती रही है । इस खण्डकाव्य में राज्य की निरंकुश सत्ता के मुकाबले में उठी साधारण जन की इस तर्जनी की ही प्रतिष्ठा है । इसीलिए, इस में सीता के साथ हुए राम द्वारा अन्याय की बात दबी ही रह जाती है ।"[2]

1- प्रवाद पर्व , पृ० 33-34
2- नरेश मेहता : कविता की ऊर्ध्वयात्रा - डा० रामकमल राय,पृ० 94

राम भारतीय संस्कृति में " मर्यादा पुरुषोत्तम" " न्याय-प्रिय " एवं " धर्म-निष्ठ मानये गए हैं । वे इसी शाश्वत-मूल्य " न्याय " की प्रतिष्ठापना करना चाहते हैं वे भरत से कहते हैं --

" केवल समदर्शी ही नहीं
उसे तत्वदर्शी भी होने दो ।
राज भवनों और राज पुरुषों से ऊपर
राज्य और न्याय को
प्रतिष्ठापित होने दो भरत ।
यदि वे तत्वदर्शी नहीं होते
तो एक दिन
निश्चय ही ये भय के प्रतीक बन जायेंगे ।।"

इस प्रकार " समानता "; न्याय " तथा " सत्य " की प्रतिष्ठा पर राम जोर देते हैं । यह कवि की सांस्कृतिक चेतना है जो राम के माध्यम से मुखरित हुई है ।

आलोच्य का काव्य के द्वितीय खण्ड प्रति इतिहास और तन्त्र " में राम अपने सभासदों के मध्य उस अनाम साधारणजन द्वारा उठाई गयी तर्जनी का औचित्य प्रमाणित करते हैं । वे कहते हैं कि - न्याय ,न्याय होता है - मानवीय सम्बन्ध नहीं । अत: उसे समूची मानवता के विशाल परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए । भरत, लक्ष्मण एवं मंत्री - सभी धोबी के कृत्य को राजद्रोह मानते हैं किन्तु राम का विवेकी व्यक्तित्व अपने सबल तर्कों द्वारा उनकी प्रत्येक बात को काटते हुए कहते हैं -

" और आज
जब एक अनाम साधारण जन
हमारी राज्य-गरिमा
और चरित्र मर्यादा की

और प्रति इतिहास के प्रकम्पित ध्वज-सी,
तर्जनी उठाता है

+ + +

तब मुझमें और रावण में क्या अन्तर रह जाता है ?
नहीं, ऐसा कदापि नहीं होगा बन्धुओं।"

जनता जनार्दन स्वरूपा " होती है। जन-भावना का समादर ही " मानवता " एवं उदात्तता है। प्रवाद-पर्व " का तीसरा सर्ग " शक्ति : एक सम्बन्ध : एक साक्षात्" है। यहाँ सीता को " शक्ति" स्वरूपा माना गया है। राम कहते हैं कि शक्ति का उत्तर तो प्रति शक्ति से दियाजा सकता है। सीता और राम का इस खण्ड में आया संवाद राम की साधारणजनों के प्रति ममत्व दृष्टि को ही नहीं स्पष्ट करता है अपितु सीता की -- व्यक्तिमत्ता को भी स्पष्ट करता है सीता के कथन " न्याय " राष्ट्र एवं सामान्य जन की रक्षा के व्यंजक हैं --

" राज्य, न्याय और राष्ट्र
व्यक्तियों तथा
सम्बन्धों से ऊपर होने चाहिए।
उस अनाम प्रजा के विश्वास की
अभिव्यक्ति की
रक्षा होनी चाहिए। "

" राजा " हमारी संस्कृति में " ईश्वर " का प्रतीक माना गया है। अस्तु, उसे " न्याय " एवं " महामानवत्व " जैसे उदात्त मानव-मूल्यों की सर्व प्रकारेण रक्षा करनी चाहिए। यही " धर्म " है। सीता के कथनों के माध्यम से कवि ने इस सांस्कृतिक मूल्य की रक्षा की उद्घोषणा की है।

आलोच्य कृति के चौथे खण्ड " प्रति इतिहास और निर्णय " में राम न्याय-मंच से इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि " मनुष्यता सर्वोपरि " है। यही हमारी संस्कृति का सर्वोच्च मानव-मूल्य है। कोई विशिष्ट व्यक्ति न्याय और राज्य से बड़ा नहीं हो सकता। सीता के चरित्र पर अंगुली उठाना राजद्रोह नहीं

कहा जा सकता ,क्योंकि राजद्रोह व्यक्ति के कृत्य पर नहीं, राष्ट्र के विरुद्ध किए गए कार्य से होता है । राम तथा सीता - राष्ट्र नहीं है । सीता के त्यागपूर्ण उदात्त-चरित्र द्वारा ही इस शंका का सन्तोषपूर्ण उत्तर दिया जा सकता है । अत: सीता वनवास के लिए सूर्योदय के साथ ही प्रस्थान करेगी । और इस काल में उन्हें कोई राजकीय सुविधा नहीं दी जायेगी । राज्य के सीमान्त तक लक्ष्मण उन्हें छोड़ने जायेंगे । इस कथन में शासक की कठोर ' न्याय-प्रियता ' और ' राम राज्य की गरिमा ' का सशक्त अंकुरण हुआ है -

' या तो राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य स्वाधीन है
या फिर स्वाधीनता
केवल कपोल-कल्पना है ।

\+ + +

अत:
कल सूर्योदय के साथ ही
सीता
वनवास के लिए प्रस्थान करेगी ।
वनवास-काल में
वह किसी भी राजकीय पद
मर्यादा, सुविधा और सुरक्षा की अधिकारिणी नहीं होगी
और सीमान्त तक
लक्ष्मण उनके रथ का सारथ्य ग्रहण करेंगे ।।'[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में ' भारतीय-संस्कृति ' का ' मर्यादावादी न्याय-परक ' दृष्टिकोण मुखरित हुआ है । एक आदर्श शासक के उच्च मानव मूल्यों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति हुई है । ऐसी आदर्श नैतिकता पर हमारी संस्कृति और हमारे राष्ट्र को गर्व है ।

1- प्रवाद - पर्व , पृ0 103-104 ।

मनुष्य का भाषाहीन होनम सृष्टि का ईश्वरहीन होना है । शक्ति के संबंध और साक्षात् के संबंध में स्वेच्छा से वरण किए गए निष्कासन, उपेक्षा और अवमाननाएं - तपस्या स्वरूप होल जाती है । सीता अपने संवाद में व्यक्तिगत सुख की उपेक्षा कर, राम की स्थिति को समझते हुए राष्ट्रीयता के महत्व " को प्राथमिकता देती है -

" मैं यज्ञ
कोई भी
राष्ट्र, न्याय और सत्य से बड़ा नहीं ।।"[1]

हमारी भारतीय संस्कृति मानती है कि -" नहि राष्ट्रत् परो हि कश्चित् " अर्थात् राष्ट्र से श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं है ।" जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी " -- (वाल्मीकि रामायण लंका काण्ड)

" शब्द " को ब्रह्म कहा गया है और शब्द जनता है। यदि जनता ही मूक हो गयी तो राष्ट्र जो कि ब्रह्म है, उसकी महत्ता नहीं रह जायेगी । जिस दिन व्यक्ति अभिव्यक्तिहीन हो जायेगा, वह समाज का सब से बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण दिन होगा --

गूंगेपन से कहीं श्रेयस् है
वाचालता ।
जिस दिन मनुष्य अभिव्यक्तिहीन हो जायेगा,
वह सब से अधिक
दुर्भाग्यपूर्ण दिन होगा ।।"[2]

कृति का अन्तिम खण्ड निर्वेद विदा " में राम सत्य,न्याय, मर्यादा,राष्ट्र रक्षा, आदि की प्रतिष्ठा के लिए सीता को निर्वासित कर देते हैं । यही तो लोक-मर्यादा है । यही तो भारतीय संस्कृति का औदात्य है ।

यज्ञ के चरु पात्र-सी मांगलिक सीता की यह परीक्षा उस

1- प्रवाद पर्व, पृ० 71
2- प्रवाद पर्व, पृ० 31

धड़ी का निर्णय है जिसमें व्यक्ति निर्वैक्तिक उदार चरित्र बन जाता है और अपनी इतिहास-पुरुषता की रक्षा के लिए निमर्म और असंग कर्म करता जाता है । कुल मिलाकर " प्रवाद-पर्व " लौकिक मर्यादा , न्याय, मानवता और सत्य का प्रतिष्ठापक एवं सांस्कृतिक-बोध का उद्घोषक खण्ड काव्य है । इसमें भारतीय उदात्त-मूल्यों के प्रति उत्कृष्ट संवेदना व्यंजित हुई है । इस प्रसंग में कवि ने अपनी आधुनिक चिन्तना का रंग मिलाकर इसे सार्वकालिक और सार्वजनीत बना दिया है ।

" प्रवाद पर्व " में नर की नारायणता संकेतित है । सीता कहती है कि " साधारणजन " नारायण स्वरूप है और मैं भी न्याय की आकांक्षिणी हूं -

" साधारणता के इस नारायण को
आर्य पुत्र ।
न्याय के प्रति नारायण की अपेक्षा है
और मुझे भी ।।"

श्री प्रभाकर शर्मा ने " प्रवाद-पर्व " के सर्वतोमुखी महत्त्व को अतुरेखित करते हुए सर्वथा उचित ही लिखा है कि -" प्रवाद पर्व के राम स्वतन्त्रता के समर्थक और प्रजातांत्रिक मूल्यों के विश्वासी हैं । वे राज्य को मानवीय परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करनेवाले हैं । वे ऐसे सत्ताधीश नहीं हैं, जो साधारणता का गला घोंट कर उसे भाषा-हीन बनाकर शक्ति का प्रयोग मात्र अपने हित में करते हो स वे तो अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के समर्थक, न्याय-प्रिय, मानवता के पक्षधर और वैयक्तिकता का सामूहिकता के लिए होम देनेवाले प्रज्ञावान पुरुष है । + + वे यह भी अनुभव करते हैं कि राज्य, न्याय तथा राष्ट्र को - व्यक्तियों तथा संबंधों से ऊपर होना चाहिए ।[1]

" प्रवाद-पर्व " रामायणीय पौराणिक सन्दर्भ को लेकर लिखा गया, एक ऐसा खण्डकाव्य है जिसमें सांस्कृतिक - उदात्त-मानव-मूल्यों को

1- नरेश मेहता : विमर्श और मूल्यांकन, पृ० 132 - प्रभाकर शर्मा

पारिभाषित किया गया है । यह काव्य अपनी समस्त पौराणिकता के बावजूद 1975-1976 की आपात् स्थित के आधुनिक बोध से युक्त है । कवि ने आपात्-स्थिति में उठे प्रश्नों को मानवीय परिप्रेक्ष्य में समाधानित किया है । नरेश मेहता लोक बनाम राजतन्त्र की समस्या को आमने-सामने रखकर प्रजातांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना में पूर्णतः सफल हुए हैं ।

डा० सन्तोष कुमारी तिवारी के शब्दों में -

निःसन्देह ,नरेश मेहता ने राम और सीता के वैचारिक आलोड़न-विलोडन को सूक्ष्म पकड़ के साथ स्थापित किया है । इतिहास और प्रति इतिहास के समानान्तर चलनेवाली रेखा शक्तियों की सटीक व्याख्या की है । प्रति इतिहास के साथ किए गए तन्त्र के दुर्व्यवहार से उत्पन्न परिस्थितियों पर गहराई से प्रकाश डाला है । राम के तर्क और निरंकुश राजतन्त्र के रूप में रावण के सन्दर्भ बहुत मौलिक और सशक्त चिन्तन के द्योतक हैं । + + +
वास्तव में नयी कविता के श्रेष्ठ आख्यानक काव्यों में प्रवाद-पर्व की गणना की जा सकती है, क्योंकि वह अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का जानदार दस्तावेज है ।[1]

:::::::

1- नई कविता के प्रमुख हस्ताक्षर - डा० सन्तोष कुमारी तिवारी, पृ० 213

" श ब री "

श्री नरेश मेहता का " शबरी " अत्याधुनिक खण्ड-काव्य है । इसका प्रकाशन 1977 ई० में हुआ । इसमें सांस्कृतिक एवं पौराणिक पृष्ठाधार पर वर्ण व्यवस्था के प्रश्न को उठाया गया है जो आज की ही नहीं प्राचीनकाल से से विकट समस्या के रूप में चलता आया एक ज्वलन्त प्रश्न है । यह लघु-काय खण्ड काव्य पांच सर्गों में विभाजित है --

1- त्रेता सर्ग

2- पम्पासर

3- तपस्या

4- परीक्षा

5- दर्शन

इसकी मूल समस्या या केन्द्रीय संवेदना यह है कि अन्त्यज जाति से सम्बन्धित व्यक्ति भी अपने कर्मों से ऊर्ध्वता को प्राप्त कर सकता है । कवि के शब्दों में - शबरी अपनी जन्मजात निम्न वर्गीयता को कर्म दृष्टि के द्वारा वैचारिक ऊर्ध्वता में परिणत करती है । यह आत्मिक या आध्यात्मिक संघर्ष, व्यक्ति के सन्दर्भ में मुझे आज भी प्रासंगिक लगता है । सामाजिक मूढ़ता परिवेशगत जड़ता तथा अपने युग के साथ संलापहीनता की स्थिति में व्यक्ति केवल अपने को सार्थक कर सकता है । इसी संघर्ष[1] के माध्यम से " स्व " " पर " हो सकता है, व्यक्ति समाज बन सकता है । "

शबरी के माध्यम से कवि ने भारतीय संस्कृति के उसी अस्मिता बोध को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया है जिसे हम प्रह्लाद से गांधी तक देखते हैं परन्तु यह चिन्तन व्यापक स्तर पर शताब्दियों से सोया हुआ है । हमारी

1- शबरी - रचना की प्रासंगिकता, पृ० 9 ।

भारतीय संस्कृति में व्यक्ति के तप को उसकी मेधा को उसकी पूरी व्यक्तिमत्ता को गहरी प्रतिष्ठा दी गयी है । जब-जब जिस-जिस युग में यह व्यक्ति की मूल्यवत्ता उसका उत्कर्ष अपनी चरमावस्था में रहा, यह देश विश्व में शीर्ष रहा । इसके विपरीत जब-जब हमने व्यक्ति सत्ता को रौंदा, देश रसातल में गया । शबरी एक प्रतीक चरित्र है जिसने " सामूहिक जड़ता से अपने चैतन्य की रक्षा की । नरेश मेहता के काव्य में " धर्म " और " संस्कृति " के दोनों पंख आद्यन्त वर्तमान हैं, जिनसे वे उड़ान भरते रहते हैं और ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर को चले जाते हैं ।

प्राचीनकाल में कर्म के आधार पर मनुष्य को चार श्रेणियों में बाँटा गया था, इसी को " वर्ण-व्यवस्था की संज्ञा दी गयी थी - जिनमें ब्राह्मणों को ज्ञान और तपस्या " क्षत्रियों को रक्षा और पालन , वैश्यों को व्यापार और शूद्रों को श्रम-व्यवस्था सौंपी गयी थी । कवि इस परिप्रेक्ष्य में कहता है —

" धर्म और नैतिकता की
तब नींव पड़ी जन-मन में
थे ब्राह्मण सिरमौर, तपस्या
के कारण सब जन में ।

रक्षक औ पालक क्षत्रिय
थे वैश्य बने व्यापारी,
श्रमिक शूद्र थे, थी समाज
की यही व्यवस्था सारी ।।"[1]

प्रत्येक व्यवस्था की कुछ अच्छाइयाँ और कुछ बुराइयाँ हुआ करती हैं ।" वर्ण व्यवस्था " में भी यही गुण दोष विद्यमान हैं किन्तु इस वर्ण व्यवस्था की कैद या संकीर्ण परिधि में मनुष्य को बन्दी बनाकर रखना उचित नहीं प्रतीत होता । क्या शूद्र के घर जन्मा मनुष्य ब्राह्मणों जैसा कर्म नहीं

1- शबरी , पृ० 16

कर सकता है ? जो कर्म सिद्धान्त ' को न मानकर कुत्सित हिंसात्मक कर्म करते थे उन्हें ' राक्षस ' या हिंसक - कोल, किरात, शबर आदि कहते थे । ऐसी ही हिंसक प्रवृत्ति के लोगों में श्रमणा शबरी ' रहती थी । कवि ने ' शबर - संस्कृति का अतीव जीवन्त चित्रण किया है --

' हिंसा, लूट पाट, हत्या यें
इनका जीवन दर्शन
रेवा से लेकर कावेरी
तक फैले थे ये जन ।।'[1]

क्रूर-कर्मा शबरों के घरों की स्थिति करता हुआ कवि कहता है -

' घर क्या था बूचड़खाना था
मांस महकता रहता
कहीं किसी की खाल खिंच
रही, कोई छुरी से कटता ।।'[2]

शबर - संस्कृति का जीवन्त चित्र अंकित करते हुए कवि उनकी निर्ममता एवं हृदयहीनता का जीवन्त उदाहरण देता है --

' सुबह तलक जो मृग शावक था,
अब या वह मृगछाला,
कहीं मनुजता नाम नहीं
यह कैसा जीवन-काला ।।'[3]

ऐसे ही हिंसक प्रवृत्ति के लोगों में श्रमणा नाम की ' शबरी ' रहती थी । वह हिंसक- प्रवृत्ति का परित्याग कर अध्यात्म ~~कमल~~ पिपासा से प्रेरित हो वह अपनी जातीय विवशता पर खेद व्यक्त करती हुई कहती है --

' अन्त्यज अछूत ,फिर शबर जाति
उस पर स्त्री , क्या हेतु कहूं
अध्यात्म पिपासा लेकर मैं -
आयी हूं कैसे कहूं ।।'[4]

1- शबरी , पृ० 17 (2) शबरी , पृ० 18 (3) शबरी , पृ० 21
4- शबरी , पृ० 17

शबरी अध्यात्म पिपासा लेकर पारिवारिक मोह-सूत्र के कच्चे बन्धनों को तोड़कर उन्मुक्त जीवन की कामना लिए हुए पम्पासर वन में ऋषि मतंग के आश्रम " में पहुंच जाती है । उसका तपोबल उसे रसमय एवं प्रभुमय बना देता है । वह स्वयं" तपस्या " बन जाती है । वह वैराग्य रूप शबरी " ज्ञान-योग " तथा" भक्तियोग " के कारण समाज की प्रताड़ना, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध एवं ऐकान्तिक जीवन की कठोरता को सहज ही पार कर जाती है । ऋषि मतंग के आश्रम की" आर्ष संस्कृति " या वैदिक संस्कृति का चित्रण करते हुए कवि लिखता है -

" प्रात: काल हुआ ही था
सब स्नान ध्यान में रत थे
यज्ञ आदि के लिए बटुक -
जन लकड़ी बीन रहे थे । "[1]

हमारी भारतीय संस्कृति में प्रात: काल" अग्निहोत्र " की व्यवस्था का उपक्रम है । ऋषि मुनिगण प्रात: स्नानोपरान्त" अग्नि-होत्र " में हवन-क्रिया किया करते थे । इससे देवगण प्रसन्न होते हैं और वातावरण तथा मनो जगत की शुद्धि होती है । कवि का यह सांस्कृतिक बोध यहाँ पर निम्नस्थ पंक्तियों में पूर्णरूपेण मुखरित हुआ है --

" यज्ञ-वेदियाँ सुलग चुकी थीं
वेद-पाठ था जारी ।
कितनी दिव्य और भव्य थी,
शान्ति यहाँ की सारी ।। "[2]

हवनोपरान्त ऋषिगण वेद-पाठोच्चारण किया करते थे । इन सारी वैदिक सांस्कृतिक क्रियाओं में कवि की पूर्ण निष्ठा परिलक्षित होती है । वैष्णव-भक्त कवि नरेश मेहता की उक्त पंक्तियों में भारतीय संस्कृति में पूर्ण निष्ठा-आस्था अभिव्यक्त हुई है ।

1- शबरी, पृ० 26
2- शबरी, पृ० 27

आश्रमीय-संस्कृति का प्रकाशन करते हुए ने लिखा है कि ऋषि-कन्यायें प्रातःकाल पोखर (जलाशय) से जल-कलश भर-भरकर आश्रम में ले आया करती थीं --

" जल कलशी ले ऋषि- कन्यायें
पोखर आती जातीं ।
भीगी एक वसन में वे
सब, धुले चरण धर चलती ।।"[1]

" एक वसन " यहाँ ऋषि-कन्याओं की शारीरिक पवित्रता का वर्णन है । वे भीगे हुए वस्त्र पहनकर ही पूजा-अर्चना के हेतु " पावन-जल " ले आया करती थीं ।

हमारे यहाँ प्राचीनकाल में ऋषि-आश्रमों में " गुरु-कुल " में शिष्य-ब्रह्मचारियों के पठन-पाठन की सुव्यवस्था थी । शिष्य गुरुकुल में रहकर गुरु सेवा करते हुए" शास्त्र व्याकरणादि " का अध्ययन किया करते थे । कवि में प्रस्तुत काव्य में भारत की प्राचीन गुरुकुलीय संस्कृति का वर्णन करते हुए लिखा है

" विह्वल शबरी को तब मतंग
आश्वासन दे भीतर लाए ।
सब शिष्य और आश्रमवासी
ये देख रहे अति चकराये ।।"[2]

आश्रमवासी इसलिए आश्चर्य-चकित हुए कि पहले तो "स्त्री" का प्रवेश आश्रम में वर्जित है । दूसरे" शूद्रा स्त्री " का तो लगभग प्रवेश असंभव सा ही था । किन्तु मतंग ऋषि की यह वैचारिक उदारता थी ।

ऋषि आश्रमों के परिसर में" गोशालाएँ " भी हुआ करती थी । इन गायों के दुग्ध, गोबर आदि से देवार्चन, याज्ञिक क्रियायें आदि संपादित होती थी । ऋषिगण एवं अन्तेवासीगण इनके दुग्ध का आहार-पान आदि भी

1- शबरी पृ० 26
2- शबरी, पृ० 34

करते थे । जब शबरी " गोशाला " में पहुंची, तो कवि उसका वर्णन करते हुए कहता है -

" वह पहुंची जब गोशाला में,
देखी धौला, कपिला ,श्यामा ।
वे गायें थीं या कामधेनु
चित्रित सींगों की अभिरामा ।।"[1]

काव्य का तीसरा" खण्ड " तपस्या है जिसमें शबरी का तपस्विनी योगिनी रूप अंकित हुआ है । पम्पासर के एक कोने में अपनी कुटिया बनाकर रहने लगती हैं । ब्राह्म-वेला में उठना, स्नान-ध्यान करना, कुश फूलों का चुनना, गोशाला में गायों को दाना-पानी देना, दूध दुहना, सफाई करना आदि उसकी दिन चर्या " थी । कवि ने सटीक चित्रण किया है -

" भिनसार ब्रह्मवेला में
बिस्तर से वह उठ जाती ।
स्नान ध्यान कर तब वह
कुश फूल आदि चुन लाती ।।"[2]

हमारी वैदिक संस्कृति की" आचार संहिता " में लिखा है कि -

" ब्राह्ममेमुहूर्ते बुध्येत, धर्मार्थों चातुचिन्तयेत् ।
उत्थाय, आचम्य, कृतान्जलि: पूर्वा सन्ध्यां तिष्ठेत ।।"

ब्रह्मवेला में जग जाना चाहिए, उठकर स्नानोपरान्त आचमन करके पूर्व सन्ध्या (प्रात: सन्ध्या) को हाथ जोड़कर करना चाहिए । कवि नरेश मेहता ने शबरी के आचरण में इस" वैदिक संस्कृति " को समाविष्ट करने का प्रशंस्य प्रयास किया है।

हमारे भारतीय शास्त्रों में " पांच यम " तथा" पांच नियम " वर्णित हैं । इन्हीं में" ब्रह्मचर्य " अर्थात् आत्म-नियंत्रण का भी निर्देश है । इसीलिए गुरु मतंग ने शबरी को आज्ञा दी थी कि वह आश्रम-जीवन का पालन करती हुई अपने पर पूर्ण अंकुश रखें -

---

1- शबरी, पृ0 34

2- शबरी, पृ0 41

' गुरु की आज्ञा थी, आश्रम
का जीवन पालन करना ।
था प्रथम पाठ जीवन का,
अपने पर अंकुश रखना ।।'[1]

भारतीय संस्कृति में ' नवधा - भक्ति ' का वर्णन विविध शास्त्रों में किया गया है । इनमें साधु-संगति, भगवद् कथानुरक्ति, ध्यान, कीर्तन, पूजनादि का निरूपण है । कवि ने शबरी में ' नवधा - भक्ति ' प्रदर्शित करते हुए लिखा है-

' ठाकुर प्रतिमा के सम्मुख
तन्मय हो कीर्तन करती ।
प्राय: तो रातें उसकी
पूजा में बीता करती ।।'[2]

शबरी के तापस रूप का वर्णन कवि ने इस तरह किया है -

' मन्दार पुष्प सा जिसका
सर्वस्व समर्पित प्रभु को,
जो स्वयं तपस्या है अब
क्या वेद-मंत्र है उसको ।।'[3]

काव्य के चौथे खण्ड ' परीक्षा ' में शबरी के व्यक्तित्व धर्म और भक्ति-भाव की परीक्षा होती है । सभी आश्रमवासी ऋषि के प्रति सन्देह व्यक्त करते हैं और एक अकूल नारी के आश्रम वास पर आपत्ति करते हैं । यहाँ उच्च वर्ग का निम्न वर्ग के प्रति जो रुख होता है , उसी का निदर्शन है । साथ मानव-स्वभाव को भी प्रस्तुत किया गया है । मनुष्य ही क्यों ऋषि मुनि भी द्वेषभाव से भर जाते हैं । तभी तो वे कहते हैं -

' सामाजिकता के अंकुश से ऊपर धर्म नहीं है ।
ये यज्ञ-याग औ पूजन शूद्रों का कार्य नहीं है ।।'[4]

1- शबरी, पृ० 41
2- शबरी, पृ० 44
3- शबरी, पृ० 48
4- शबरी, पृ० 55

इतना ही नहीं ऋषि -समूह तो यहाँ तक कह देता है कि -

" शिव - शिव - मतंग को तो,
मति ही अब भ्रष्ट हुई है ।
अब आर्य स्त्रियों की ही
यह शबरी इष्ट हुई है ।।"[1]

अन्तत: सभी आश्रमवासी शबरी को मुंह बाँध कर उठा ले जाने की योजना बनाते हैं किन्तु उस तपस्विनी का कोई बाल बाँका नहीं कर पाया । अचानक ऋषि मतंग के आ जाने पर सभी क्षमायाचना करते हैं ।

अन्तिम खण्ड " दर्शन " में शबरी को प्रभु श्रीराम के दर्शन होते हैं । स्वयं राम तथा लक्ष्मण वहाँ आते हैं और उसे तापसियों में शिरोमणि घोषित करते हुए कहते हैं -

" अन्य कौन त्रेता में,
जो श्रेष्ठ भक्त शबरी से ।
हैं मंत्र यज्ञ यह सब कुछ
सब सिद्ध इसी शबरी में ।।"

श्री प्रभाकर शर्मा का मत है कि -" शबरी काव्य का मूल संकेत यही है कि वर्ण-व्यवस्था से ऊपर उठकर कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक स्वत्व को पा सकता है । नरेश की चिन्मयता संवित का स्पर्श पाकर शबरी की साधारणता असाधारणता में बदल गयी है । शबरी को स्वयं कवि ने" मंत्र चरित्र बतलाया है । असल में कवि ने यह प्रश्न उठाया है कि चैतन्य की रक्षा के लिए सामूहिक जड़ता को तोड़ना अनिवार्य है । यही प्रश्न बाल्मीकि के सामने था और यही नरेश के सामने भी है । कारण वर्ग विषमता और वर्ण-व्यवस्था वाले समाज में यह एक चिरन्तन प्रश्न है और रहेगा । बाल्मीकि की मानवीय दृष्टि से यदि शबरी चरितवती हुई, तो नरेश की मंत्र पूत दृष्टि से वही मंत्र चरित्र बन गयी ।"[2]

1- शबरी, पृ० 56

2- नरेश मेहता काव्य : विमर्श और मूल्यांकन - श्री प्रभाकर शर्मा, पृ० 134

कवि की सांस्कृतिक चेतना " उपनिषद् ", " भागवत ", " पूजा " " श्लोक ", " मन्त्र " आदि शब्दों द्वारा आलोच्य काव्य में यत्र-तत्र बल्कि सर्वत्र व्यंजित हुई है । कवि ने लिखा है :-

" यह धरा उपनिषद् जैसे, वह मंत्र देवता उसकी,
यह उसकी पूजा ही की, अत्यन्त सरलता उसकी ।।
आकाश- भागवत की वह थी, प्रथम श्लोक सी शबरी, [1]
करने कृतार्थ जाती थी, अब स्वयं लोग को शबरी ।। "

नरेश जी आधन्त मिथकता के द्वारा जातीय मूल्यवत्ता और अस्मिता की तलाश भारतीय मानसिकता के अनुकूल करने में समर्थ हुए हैं । उनका उद्देश्य भारतीय संस्कृति की उदात्तता को उजागर करना है ।

हमारे यहाँ भारतीय संस्कृति में अवतार-वाद " की प्रतिष्ठा हुई है । भारतीय मानसिकता के अनुसार " ईश्वर " मनुष्य रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं । प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में कवि कहता है -

" यह श्याम - श्वेत की जोड़ी
है राम और लक्ष्मण की ।
यह देव मुखों सी मुद्रा
बतलाती प्रभु लक्षण की ।। " [2]

अन्त में उस तपस्या रूपा शबरी को परम पुरुष राम स्वयं आकर सम्मानित करते हैं । कवि ने " सागर " के प्रतीक से इस तथ्य को रूपायित किया है -

" अब तो सागर खुद ही आया था चलकर द्वारे ।
थी कब की यह आकांक्षा, नदियों को सिन्धु पुकारे ।। [3]

हमारे यहाँ " नारदीय भक्ति सूत्र " में भगवान ने नारद से कहा है कि -

---

1- शबरी, पृ० 83 2- शबरी, पृ० 79
3- शबरी, पृ० 74

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च ।

मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद ।। '

भाव यह है कि मेरे भक्त जहाँ भी मुझे पुकारते हैं मैं वहीं उन्हें प्राप्त हो जाता हूं । इस प्रकार पम्पासर की वनस्थ कुटिया में शबरी को प्रभु सुलभ हो जाते हैं और वह उनके चरणों में श्रद्धानत हो जाती है -

' वह झुकी हुई थी प्रभु के,
चरणों पर श्रद्धानत हो ।
आँसू से भीग गए पग,
श्रद्धा थी झुकी विनत हो ।।'[1]

भारतीय संस्कृति ' कर्मवाद ' को सर्वाधिक महत्व देती चली आ रही है । कहा गया है कि ' योगः कर्मसु कौशलम् ' अर्थात् कर्मों में कुशलता ही ' योग ' है । इस प्रकार शूद्र कुलोद्भवा शबरी श्रम, कर्म और पावन व्यवहार से आत्मोत्थान की पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है तथा परम लक्ष्य की संप्राप्ति कर लेती है । आलोच्य काव्य में ' शबरी ' अपनी नगण्यता- साधारणता को कर्म दृष्टि के सहारे वैचारिक उच्चता के शिखरों तक ले गयी है । उसका यह प्रयास व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में आज भी प्रासंगिक प्रतीत होता है । वह आत्मिक संघर्ष करती हुई पावन, श्लाघ्य और मंगल मूल चरित्र बन गयी है । प्रस्तुत काव्य में आद्योपान्त सांस्कृतिक राग-बोध अभिव्यक्त हुआ है ।

0000

1- शबरी, पृ० 88

'डूबते मस्तूल'

कथा-सार (संक्षेपीकरण)

लेखक का मित्र एवं सहपाठी हंसराज पुरी एम०काम० लखनऊ में 19 नार्थ स्वेन्यू में रहता था । उसने लेखक को 23 मार्च,1951 ई० को अपने घर आने के लिए निमंत्रित किया था । लेखक उससे मिलने के लिए ट्रेन से लखनऊ गया । स्टेशन से उतर कर उपन्यासकार एक मियां के तांगे पर 19 नार्थ स्वेन्यू (लखनऊ) गया । होली का दिन होने के कारण लड़कों ने लेखक के कुर्ते पैजामें तथा शरीर को पिचकारियों के रंगों से रंग दिया । संयोग से लेखक के पास कोई दूसरा कपड़े का सेट पहनने के लिए पास में नहीं था । अतएव वह सफेद रंग-बिरंगा कपड़ा पहने अपने मित्र के घर जा रहा है । लेखक मार्ग में जाते हुए अपने मित्र पुरी जी ,उनकी नव-विवाहिता पत्नी तथा उनके बंगले आदि के विषय में मन में विविध कल्पनाएं करता हुआ चला जा रहा है । जाते-जाते लेखक नार्थ स्वेन्यू लखनऊ पहुंच गया । तांगा रुक गया । फाटक पर काली पपाती पर सफेदी से लिखा हुआ " नामपट " मिला जो कि बहुत पुराना पड़ चुका था । मित्र पुरी जी लाहौर के हैं किन्तु अब लखनऊ में 19 नार्थ स्वेन्यू में रहते हैं। संयोग से बंगले में बाहर कोई नहीं है । शान्ति है । वहां एक माली फूलों की क्यारियों को खोद रहा था । लेखक ने माली से " पुरी " जी को पूछा । माली ने कहा कि " मालिक आज सुबह तार पाकर बरेली चले गए हैं ।" लेखक झुंझलाकर किंकर्तव्य विमूढ़ सा हो जाता है । इसीबीच माली फिर अन्दर से दौड़ताहुआ आता है और पुकार कर कहता है -" चलिए, आपको मेम साहब बुला रही है ।"

लेखक ने सोचा कि संभवत: पुरी जी अकेले ही बरेली गए हैं । वह अति प्रसन्न हो गया कि पुरी की पत्नी से कहूंगा कि " मैं आ गया हूं ।" लेखक अन्दर गया तो लाल अक्षरों में" वेलकम " लिखा था और सुनहरी नाम प्लेट में -" श्रीमती रंजना " लिखा था । उसने सोचा कि - श्रीमती रंजना पुरी "

ही लिखा है । इसके उपरान्त लेखक के सामने सुन्दर हरी साड़ी पहनने, घुंघराले बाल, हंसमुख चमकती आंखोंवाली गोरे रंग की अप्रतिम सुन्दरी एक नवयुवती दोनों हाथ जोड़े हुए प्रणाम करती हुई आयी । लेखक मन में सोचता है कि मेरे मित्र की पत्नी " रंजना " यही है । उसने कहा -" आइए, शायद अभी आप आ रहे होंगे कानपुर से ।" लेखक ने कहा -जी हां इसी साढ़े बाहर की गाड़ी से आया हूं । उसने कहा कि पुरी ने आपके बारे में इतना सारे पत्रों में लिखा है ।

उसने हंसते हुए लेखक से कहा आप सोफे पर आराम से बैठकर सिगरेट पीजिए , तब तक अन्उ प्रबन्ध हो जाता है । लेखक सिगरेट पीने लगा । तब तक वह पुन: लौटकर आयी और कहा - सुनिए, अब आप गुसल ले लें अर्थात् स्नानादि कर लें और पुन: हंसी कि - मैं आपके मित्र की पत्नी नहीं हूं । इस बात पर लेखक को बड़ी घबराहट सी हुई । उसने सोचा कि यह मात्र " श्रीमती रंजना " का नाम-प्लेट था, मैंने आग " पुरी " व्यर्थ जोड़ दिया । लेखक ने उससे कहा - तो मैं अब जाना चाहता हूं । आज्ञा दीजिए ।"

रंजना ने लेखक से कहा कि आप बचपन में मुझसे परिचित हैं । क्या आपको याद नहीं है ? (तुम पहले से दुबले हो गए, ऐसा क्यों ? लेखक को भ्रम हो गया कि संभव है कि यह परिचिता हो । एतद् उपरान्त रंजना के कहने पर लेखक गुसलखाने में नहा- धोकर तौलिए से शरीर पोंछकर कमरे में बैठ गया । रंजना ने लेखक से अनेक प्रकार की हंसी मजाक भी की । तत्पश्चात बैरा प्लेटों में हल्दी में बने मछली के टुकड़ों को चम्मच क साथ लिया । दोनों खाने लगे । इसी समय रंजना ने लेखक को " अकलंक " नाम दिया । लेखक ने कहा - आप भूल रही हैं - मेरा नाम " अकलंक " नहीं है किन्तु रंजना मानती नहीं है और हंसी में बराबर उसे " अकलंक " ही अन्त तक कहती रही ।

रंजना ने लेखक को बताया कि -" अब मैं विवाहिता हूं - मेरे पति फौज में कर्नल हैं ।" इसके बाद रंजना ने कहा कि -" मैं जल रही हूं

अकलंक । फिर रंजना ने बताया कि मेरे पति " कुलकर्णी " इस समय लखनऊ में मिलिट्री के कर्नल हैं और उन्हें यहां आने की कभी फुर्सत नहीं मिलती । रंजना " अकलंक " नाम से संबोधित करते हुए लेखक से बाल्यकालीन मिलन एवं प्रेम की लाहौर, पंजाब, माल रोड आदि के अनेक संस्मरण बताया ।

रंजना ने कहा - जानते हो अकलंक । सीमा प्रान्त में जहां मैं पैदा हुई थी, वहां से हमलोग क्यों चले आए ? वहां सीमा प्रान्त में मेरे पिता जी रुपए का लेन-देन करते थे और दिन भर कारतूस की पेटी बांधे तथा बन्दूक लटकाए बड़े खुंखार बनकर रुपये वसूलते थे । उस मेरे गांव का सरदार एक पठान था - महमूद और उसका लड़का गोरा-चिट्ठा,हट्टा-कट्टा - " सैयद " था । उससे लड़कियां भयभीत रहती थीं । वह मुझे अत्यन्त प्यार करता था । मैं " तेरह वर्ष की थी , तभी मैंने अपना विवाह उसी " सैयद " से रचाया । उसने विवाह किया । मैंने अपने माता-पिता से छिपाकर " निकाह " पढ़ा था । सैयद स्त्रियों को बेचने का व्यापार करता था । वह मुझे भी बेचने जा रहा था । मैंने उसी की गोली से उसे सोए रहने पर मार डाला । उसके पिता और सरदारों ने मुझे मारने के लिये पीछा किया । भागकर हम और हमारे माता-पिता तभी से " लाहौर " आकर रहने लगे । तब मैं सचमुच विधवा थी । मेरे पिता जी की कठोर आज्ञा थी कि " विधवा " होने की बात किसी से भी मत बताना ।

रंजना ने लेखक को " अकलंक " कहते हुए बताया कि उसने अंग्रेजी साहित्य से " एम०ए० " किया और तब उसका विवाह यानी दूसरा विवाह एक " राय बहादुर " के लड़के से हुआ । वह भद्रकुल का श्रीमन्त पुत्र था । वह मुझे प्राय: मारा करता था । विवाह के तीन वर्ष बाद ही मेरे माता-पिता दोनों मर गए और मेरे ससुर " ने मेरी सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए दोनों को स्वर्ग भिजवा दिया । मेरे दूसरे पति महाराय को विलायत घूमने का शौक था । मेरे इसी समय एक लड़की भी पैदा हुई । बाद में अपने इस पति तथा परिवार से भी परित्यक्ता हो गई ।

एक दिन रंजना ने अखबार में पढ़ा कि एम्बूलेन्स में स्त्रियों की भर्ती की जा रही है । उसने प्रार्थना-पत्र दे दिया और भर्ती होकर " नर्स " हो गयी । सुबह चार बजे ही नहा-धोकर अस्पताल जाया करती थी । मिलिट्री का अस्पताल था । वहाँ एक" कर्नल - टामस " था । उसने रंजना को प्यार करना प्रारंभ कर दिया । वह अंग्रेज़ था । शराब का बड़ा शौकीन था । स्पेशल वार्ड में जब रंजना की ड्युटी होती थी , तब उसमें एक ही रोगी के होने के कारण अत्यधिक आराम रहता था । वहाँ एक बटालियन आफिसर था । उसके टान्सिल्स बढ़ आए थे । आपरेशन हुआ और ठीक हो गया । वह भी " रंजना " पर मोहित था । इस बटालियन आफिसर का नाम" रेनाल्ड " था । यह" जनरल सर्विस " की लड़कियों को घूरने के मामले में छावनी में प्रसिद्ध था । " कर्नल टामस " शिष्ट था । उसने कभी अभद्र व्यवहार नहीं किया । रंजना ने उसके चरित्र की पर्याप्त प्रशंसा की है । पर" रेनाल्ड " आवारा टाइप का था। वह रंजना को परेशान करने लगा । इससे ऊब कर रंजना ने त्याग-पत्र दे दिया ।

रंजना" धर्म-परिवर्तन " करके ईसाई हो गयी । वह मेरी अस्पताल " में हो गयी । चपरासी ने बताया कि मैं अस्पताल में अपने आने की सूचना प्रमुख सर्जन" मेजर आस्टीन " को दे दूं । उसने अपनी उपस्थिति की सूचना मेजर महोदय को दे दी । वह आस्टीन के साथ जब राउण्ड पर जाया करती थी, तब एक बन्दूकधारी गार्ड भी साथ जाता था । मेजर आस्टीन भी रंजना के रूप-लावण्य पर मुग्ध हो जाता है । उसके साथ रंजना का विवाह (तीसरा विवाह) निश्चित हो गया । विवाहित हो जाने पर आस्टीन को हालैण्ड जाने का आदेश मिला । रंजना को भी हालैण्ड जाना पड़ा । वहाँ जास्टिन" आम्सटरडम " में सर्जिकल प्रैक्टिस करना चाहता था ।

" आम्सटरडम " में रंजना के पति आस्टिन का एक गहरा मित्र " वाननिकोलस " था । वह बड़ा भारी संगीतज्ञ और चित्रकार था । " वान-निकोलस " भी रंजना को प्यार करने लगा । लोग रंजना को वान की " भारतीय प्रेमिका " तक कहने लगे ।" आस्टीन " सचमुच बहुत ही अच्छा था ।

रंजना उससे सन्तुष्ट थी । उसे गर्भ भी रह गया । जान को लड़ाई के फ्रण्ट पर जाना पड़ा । रंजना के गर्भ से " लड़का " पैदा हुआ । उस समय जान लड़ाई से आठ दिन की छुट्टी पर आ गया था । रंजना ने बच्चे का नाम " असित " रखा, लेकिन जान और वान दोनों ने मिलकर उसका पूरा नाम " विसेन्ट वान असित " रखा ।

एक दिन " असित " बहुत बीमार हो गया । वान ने उसे बचाया । रंजना अन्त में भारत लौट आई । बच्चा वान के स्नेह के कारण नहीं आया । बम्बई में चौपाटी में एक " कुलकर्णी " नामक मिलिट्री अफिसर से भेंट होती है । कुलकर्णी उसके अप्रतिम सौन्दर्य पर मोहित होकर उससे विवाह कर लेता है । बाद में कुलकर्णी खूब शराब पीने लगा और रंजना को " चरित्र-हीन " कहकर त्याग दिया ।

अन्त में " रंजना " लेखक को बताती है कि मैं " श्रीमती रंजना-कुलकर्णी " हूं और " श्रीमती रंजना पुरी " नहीं हूं । मैंने तुम्हें जान बूझकर " अकलंक " कहा । मेरा साथी अकलंक तो दस वर्ष पहले ही मर गया था ।

इसका शीर्षक " डूबते मस्तूल " प्रतीकात्मक है । रंजना का वास्तविक पति " मेजर जास्टिन तथा उसका सच्चा प्रेमी " वान निकोलस " - जो उसकी जीवन नौका के कुशल नाविक थे - वे बाहर विदेश में थे अत: उसकी नौका का " मस्तूल " डूब रहा था । बिना " नाविक " के नौका का " मस्तूल " डूबेगा ही ।

दूसरा प्रतीकात्मक अर्थ - यह लिया जा सकता है कि जीवन के श्रेष्ठ मूल्यों की नौका के मस्तूल अब वर्तमान युग में डूबते जा रहे हैं — क्योंकि जीवन एवं जगत में आज चतुर्दिक " मूल्य-हीनता " का बोलबाला दृष्टि-गोचर हो रहा है ।

000

सांस्कृतिक - बोध :

नरेश जी की रचना-भूमि रहस्य की भूमि है, यथार्थ की भूमि है । वर्तमान युग में जीवन के उच्चादर्श, उच्च मानदण्ड एवं उच्च सांस्कृतिक-मूल्यों के उच्च शिखर या " मस्तूल " सचमुच ध्वस्त होते जा रहे हैं । मानव की मांसल-आकांक्षाएं-वासनाएं उसकी " मानवी " संज्ञा पर प्रश्न-चिन्ह लगाती चली जा रही है । आदर्श, सदाचार, नैतिकता आदि निरर्थक या अर्थहीन होती जा रही है । इसी अर्थ और ध्वनि के कारण आलोच्य उपन्यास एक सांस्कृतिक उपन्यास है, जो आदर्श, सच्चरित्रता, नैतिकता, ईमानदारी आदि शाश्वत मूल्यों को उनकी निरर्थकता तथा मूल्य-हीनता के सन्दर्भ में रखकर यथार्थ की ठोस भूमि और उसकी अर्थमयी और अमानवीय प्रवृत्ति को एक संकट के रूप में सम्प्रेषित करता है ।

परिस्थितियों के संघात से टूटती-बनती एक अप्रतिम सुन्दर " रंजना " नामक नारी की विवश-गाथा का प्रतीक नाम है - डूबते मस्तूल " जिस नारी ने हमें जन्म दिया, जिससे हमारा सृजन हुआ, उस वन्दनीया नारी पर हम अपनी अमानवीय प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए भीषण प्रहार करते हैं । पूज्या अर्चनीया नारी मात्र " भोग्या " समझी जा रही है । कथाकार मेहता जी ने ग्रंथ की " भूमिका " में चार विद्यार्थी तथा " सिंह " की कथा के संकेत से इसी विघटन शील " सांस्कृतिक-बोध " को इंगित किया है । वस्तुत: वह " सिंह " मात्र वनैला पशु न होकर अपने प्रतीकात्मक अर्थ का भी बोधक प्रतीत होता है । वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बड़े कहे जानेवाले लोग सचमुच " मनुष्य " के रूप में हिंसक " सिंह " बन गए हैं, क्योंकि उनमें मानव की धर्मिता नहीं दिखाई पड़ती है ।

प्रस्तुत उपन्यास की नायिका " रंजना " को अपने इस " भोग्या स्वरूप से अतीव विद्रोह है, पर प्रकृति के विधान का उल्लंघन कर पाना एक सनातन समस्या है । रंजना के पिता का " बोध " मात्र " आर्थिक-बोध " है वह पैसे का लेन-देन करके नर-पिशाच बन जाता है । " गुण्डेगर्दी " और " आतंकवाद का संबल ग्रहण कर वह अर्थोपलब्धि में तल्लीन है । उसने " मानवता " का कवच उतार दिया है । वह एक " व्यक्ति-विशेष " न होकर पूरे अर्थ पिपासु समाज का प्रतीक लगता है । इस यथार्थ-बोध को व्यक्त करती हुई रचना कहती है -

" वहाँ सीमाप्रान्त में मेरे पिता रुपये का लेन-देन करते थे -- और बाप रे बाबा, कितना भयानक होता है, वहाँ के लोगों से एक-एक रुपया वसूलना । + + + पिता जी दिन भर कारतूस की पेटी बाँधे हुए, कंधे पर बन्दूक लटकाये अपनी साँड़नी (डाची " पर सवार उन ऊँची-नीची घाटियों और दर्रों में चक्कर काटा करते थे । मेरी माता दिन-दिन भर खाना नहीं खाती थी , उन्हें खटका ही लगा रहता था कि पता नहीं किस समय क्या हो जाय ।"

यथार्थ का यह बोध एक सांस्कृतिक-बोध है । मूल्यों की असार्थकता और यथार्थ का यह अमानवीय रूप एक आदर्श-मूल्य की अनिवार्यता को भी संकेतित करते हैं ।

उपन्यासकार एक वैष्णव भक्त कवि और कथाकार हैं । उसमें भारतीय सांस्कृतिक-बोध समाहित है । वह स्थान-स्थान पर अपने इस बोध को व्यंजित करता हुआ चलता है । रंजना के बार-बार हँसने पर लेखक अपनी संस्कृति की विशिष्टता के विषय में कहता है - " हँसना हमारा राष्ट्रीय गुण नहीं है । हम भारतवासी वैसे ही गंभीर हुआ करते हैं । तब हमारी महिलाओं का इस प्रकार हँसना क्या स्त्रियोचित है ? "[2]

वर्तमानयुगीन यथार्थ के कठोर प्रहार से हमारे परम्परागत सांस्कृतिक मूल्य आहत हो रहे हैं । रंजना आधुनिक मूल्यों में आस्था रखती हुई कहती है - " जानते हो मैं तब भी विधवा थी और अब भी । क्षमा करना, मुझे ऐसा लग रहा है कि न तो मैं कभी सधवा ही थी और न विधवा ही -- किन्तु कदाचित् इन संज्ञाओं से परे नारी की कल्पना तुम न कर पाओगे । यह तो अपने-अपने संस्कारों, परिस्थितियों का प्रश्न है । मुझे भी इन संस्कारों के भूत और देवता - सभी से युद्ध करना पड़ा है ।"[3]

इस प्रकार आज हमारे परम्परागत सांस्कृतिक मूल्य खोखले सिद्ध होते जा रहे हैं और नए सांस्कृतिक मूल्य प्रादुर्भूत हो रहे हैं ।

जब कोई रचनाकार अपनी " संस्कृति" अथवा " सांस्कृतिक -धार्मिक व्यक्तियों " की चर्चा करके अपने मत की पुष्टि का प्रयास करता है, तब उसका सांस्कृतिक -बोध निःसन्देह अभिव्यक्त होता है । रंजना अपनी नारी सुलभ अन्तर्वेदना को व्यक्त करती हुई कहती है -" पुरुष, समय का व्यवधान पड़ने पर देखा गया है कि दुष्यन्त बन जाने में ही सारा कौशल समझता है । मैं कालिदास की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकती, जिसने पुरुष मात्र का प्रतीक लम्पट राजा के रूप में चुना । कला के लिए उसने उस लम्पटता को धो डालने के उपाय क्यों न निकाले हों और फिर अलकन उपाय कौन नहीं खोज निकालता ।"[1]

कथाकार विवच्य उपन्यास में प्राचीन सांस्कृतिक-मूल्यों को नकारते हुए नए मूल्य-बोध में आस्था अभिव्यक्त करता हुआ " रंजना " के माध्यम से कहता है -" नारी अन्यदा हुआ करती है, इसलिए तुम उसे चरित्रहीन भी कह लेते हो । मैं अन्यथा हूं, इसलिए चरित्रहीन भी हूं । चन्द्रमा का कलंक और ग्रहण तुम पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा, स्नान-ध्यान से दूर कर लेते हो, किन्तु हमारे कलंक को धो सकना तुम्हारे पुरुषार्थ की बात नहीं है । तुम मात्र देखते ही विजित पाण्डवों की भांति कि कल की पूजा करती हुई नारी दूसरे दिन तुम्हें कोठों पर से निमंत्रण देती है ।"[2]

सचमुच हमारा प्राचीन सांस्कृतिक बोध " नारी " के प्रति असहिष्णु एवं निर्मम ही दिखाई देता है ।" पुरुष-प्रधान" हमारा भारतीय समाज " पुरुष " को तो विकट अपराधों से भी मुक्त कर देता है किन्तु यदि " नारी " में दोष देखा तो उसे समाज से बहिष्कृत कर, उसके सारे उपकारों को विस्मृत कर , उसे " वेश्यालय " तक में पहुंचा देता है । आधुनिक सांस्कृतिक बोध इन्हीं दोषों के कारण पूर्वार्जित सांस्कृतिक मूल्यों को नकार रहा है । " पुराणमित्येव न साधु सर्वम् " अर्थात् सारी पुरानी मान्यताएं " साधु " (ठीक) नहीं है ।

आज का यथार्थ बोध प्राचीन सामाजिक वर्जनाओं-बंधनों को स्वीकारता नहीं है । क्योंकि सामाजिक बंधनों ने व्यक्ति के व्यक्तित्व स्वातंत्र्य

1- डूबते मस्तूल "- वही, पृ० 85

2- वही, पृ० 95

अस्मिता को निर्जीव सा कर दिया है । आज का बुद्धिवादी युग नूतन सांस्कृतिक मूल्यों की अवतारणा कर रहा है ।" रंजना " आलोच्य उपन्यास में इसी " नए सांस्कृतिक मूल्य " की ओर संकेत करती हुई कहती है --

" अकलंक । तुम्हारे इस समाज में व्यक्ति पैदा करने की क्षमता, शक्ति अब शेष नहीं है जिसे तुम व्यक्ति कहते हो वह एक पोस्ट आफिस का टिकट मात्र है जिसके सांचे बने हुए हैं । अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें तुम बड़े छोटे सांचे में ढालते हो । व्यक्ति बनाया तभी जा सकता है, जब वह पैदा हो । जाने कितने संस्कार, समाज रूप में उसके चारों ओर खड़े कर देते हो कि उसमें वह व्यक्ति ही नष्ट हो जाता है । तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा से विद्रोह कर यदि कोई" व्यक्ति " बनना चाहता है, तो उसे तुम पथ-भ्रष्ट, अनागरिक, चरित्र-हीन कहकर बहिष्कृत कर देते हो । क्योंकि वह तुममें से एक" भेड़ " नहीं है ।"[1]

सचमुच हमारे भारतीय समाज ने मनुष्य को बंधनों के सांचे में ढालकर, उसे रूढ़िग्रस्त या कुण्ठित सा कर दिया है । आधुनिक चिन्तन इस सांस्कृतिक- सामाजिक -बन्धन को सांप की पुरानी" केंचुल " की भांति त्याग रहा है और नए सांस्कृतिक मूल्यों की सर्जना में संलग्न है । रंजना के वक्तव्य के माध्यम से उपन्यासकार प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों में अनास्था अभिव्यक्त करता है ।

लेखक भारतीय -संस्कृति एवं धर्म के संकीर्ण कर्मकवच में आबद्ध " नारी " की चिन्तनीय अथवा यों कहिए की" शोचनीय " स्थिति पर खेद व्यक्त करता हुआ कहता है कि -" हम पुरुषों ने अपने लिए सूट तो जरूर शोभा के लिए चुन लिया है, पर सारी भारतीय संस्कृति और धर्म हमारे घरों की स्त्रियों की" साड़ी " पर निर्भर है । शब्द कोश में हिन्दू धर्म का पर्यायवाची अगर कोई शब्द दिया जाय तो वह" साड़ी " होगा ।"[2]

स्पष्ट है कि उपन्यासकार प्राचीन भारतीय धार्मिक सांस्कृतिक मूल्यों की" रूढ़िबद्धता " एवं संकीर्णता पर व्यंग्योक्ति करता है । मन्तव्य यह है कि युग बदला, परिवेश एवं परिस्थितियां परिवर्तित हुई, तो सांस्कृतिक मूल्यों में भी" परिवर्तन " वांछनीय है । हर चिन्तनशील प्रबुद्ध व्यक्ति इन नए सांस्कृतिक-मूल्य

1-" डूबते मस्तूल " , वही, पृ0 96

2- वही, पृ0 98

की अनिवार्यता को निश्चय ही स्वीकारेगा । निष्कर्ष यही होता है कि आज प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों के " मस्तूल " डूब रहे हैं अर्थात् ध्वस्त होते जा रहे हैं ।

अपने सांस्कृतिक भारतीय मूल्य-बोध में आस्था रखते हुए उपन्यासकार " रंजना " के माध्यम से कहता है कि ये " साम्यवादी " नास्तिक हैं षड्यंत्रकर्ता है । अत: शाश्वत मूल्यों का खण्डन करते हैं - " जब ईश्वर ने ही छोटे- बड़ों का भेद बनाया है, तब अमीर और गरीब वाले सृष्टि के नियम को ये साम्यवादी क्यों तोड़ना चाहते हैं ? साम्यवादियों का यह कथन कि यह धरती और सारा शासन मजदूर तथा शोषित वर्ग के लिए होना चाहिए, षड्यंत्र है । उस परम्परागत चली आती हुई आज तक की संपूर्ण भद्र संस्कृति को तहस-नहस करने के लिए ।"[1]

" ईश्वर " में आस्था भारतीय सांस्कृतिक-मूल्य बोध का व्यंजक है ।

लेखक " ब्राह्मणत्व "," शिव "," अभिषेक "," पार्वती आदि सांस्कृतिक धार्मिक शब्दावली के माध्यम से अपने " सांस्कृतिक-बोध " को अभिव्यक्त करता हुआ कहता है -" कदाचित् ब्राह्मण घर में पैदा होने के कारण मुझे स्मरण आ रहा है कि शिव की मूर्ति पर एक अभिषेक-पात्र टंगा रहता है और उसमें से जल धारा निरन्तर शिवलिंग पर गिरती रहती है । मुझे ऐसा लग रहा है कि उच्च वर्ग की इन पार्वतियों पर भी अभिषेक रूप में वारुणी इसी प्रकार गिरती रहे तो कदाचित् उपमा में कहीं कोई असंगति न हो ।"[2]

नारी का " पति " या " प्रेमी " उसके लिए " कवच " है । यदि " पति " या " प्रेमी " नारी को छोड़ देता है, तो वह असहाय होकर निराधार रूप में चलायमान हो सकती है । यह नारी के सन्दर्भ में एक सांस्कृतिक समस्या बन जाती है । इसी सांस्कृतिक-मूल्य संकट को संकेतित करती हुई ' रंजना " भारतीय पौराणिक आख्यान के माध्यम से कहती है - तुम चले गए और कवच भी तुम्हारे साथ चला गया । मैं कवच तथा कुण्डल-हीन कर्ण की भांति हो गयी । यदि मैं कवच-हीन होकर जीवन में घायल या रक्तरंजा हो गयी, तो मेरा क्या दोष अकलंक ।"[3]

---

1) " डूबते मस्तूल ", वही, पृ० 157 (2) वही, पृ० 174

3) वही, पृ० 176

" नारी " का आश्रय-स्तम्भ उसका" पति" होता है । यदि वह छोड़ देता है, तो वह" लंगर " रहित " नौका "की भांति निश्चय ही डूब सकती है । इसमें" नारी" का क्या दोष ? नौका का क्या दोष ? तात्पर्य यह कि सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा में मात्र नारी ही उत्तरदायिनी नहीं है, बल्कि दोनों है ।

" डूबते मस्तूल " उपन्यास का शीर्षक ही सांस्कृतिक - बोध के संकट को संकेतित करता है । वर्तमानयुगीन परिप्रेक्ष्य में उच्च मानव मूल्य- सच्चरित्रता, न्याय, प्रेम, अहिंसा, मानवतावाद एवं नैतिकता आदि जो जीवन-नौका के दिशा-निर्देशक आलोक-स्तम्भ है, वे अब ध्वस्त होते जा रहे हैं - डूब रहे हैं । यही इस उपन्यास का" प्रतीकार्थ " है ।

::::::::

" दो एकान्त "

इस उपन्यास के " सांस्कृतिक बोध " पर एक विशिष्ट दृष्टि डालने के पूर्व संक्षिप्ततः इसके " कथा-सार " को रेखांकित कर देना इसकी मूल्यवत्ता एवं अर्थवत्ता की दृष्टि से समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि आज की अति व्यस्तता एवं प्रयत्न लाघव की मनोवृत्तिवाले इस युग में यह अध्येताओं के लिए पूर्ण सहायक तथा हितकर होगा ।

" कथा-सार " -- " पुरी " (उड़ीसा, राज्य में स्थित जगन्नाथपुरी) में समुद्र के " सी-बीच " के किनारे अर्धवृत्ताकार में निर्मित बंगलों की एक लम्बी सी कतार बनी हुई है । इसी में पूर्वी तट पर एक ढूह पर " निर्जन-सिकता " नामक एक छोटी सी काटेज है । यह काटेज श्री प्रमथनाथ मुखर्जी की है । प्रमथ बाबू स्थानीय कालेज में बंगला के अध्यापक थे ।" वानीरा " इन्हीं विधुर प्रमथ बाबू की एक लौती सन्तान है । उसे विवेक जैसे सुपात्र के हाथों सौंपकर प्रमथबाबू एक दिन वैराग्य-भावना से उत्प्रेरित होकर स्थानीय " चैतन्य मठ " में आकर दीक्षा लेकर सन्यासी हो जाते हैं । उनका वहाँ नाम " नित्यानन्द " हो गया । विवेक डाक्टर है । उसने अपनी डिसपेन्सरी यहीं " पुरी " में खोल ली थी । उसे प्रमथबाबू की कन्या और काटेज ही नहीं मिली, बल्कि उनके यश का भी उसे लाभ मिला ।

विवेक डिसपेन्सरी से रोज जल्द लौट आता और तब अनूप सुन्दरी " वानीरा " के साथ समुद्र तट पर टहलते, प्राकृतिक सौन्दर्य का अवलोकन करते हुए पति-पत्नी यौवनोल्लास में मटरगस्ती करते हुए मन्दिर में पहुंच जाते । वहाँ कथा-कीर्तन तथा भजन- सुनकर लौट आया करते थे । प्रफुल्ल चित्त धर आकर ग्रामोफोन सुनते रहते । वानीरा बातें करती होती और विवेक दवाइयों का " पाम्फलेट्स " पलटते सुनता था । आए दिन कोई न कोई सांस्कृतिक धार्मिक आयोजन आदि होते ही रहते थे । कालीबाड़ी की " दुर्गा पूजा " से लेकर " मेरी क्रिसमस " तक में वे सम्पति आते- जाते तथा प्रसन्न एवं व्यस्त थे । फिर भी, वहाँ ऐसा " एकान्त " था जिसे कहना चाहिए

" दो एकान्त " (पति-पत्नी का एकान्त) था, जहाँ सम्पति की ही पदाहटें प्राय: सुनाई पड़ती थीं । कालीपद - उनका नौकर था जो सेवा-शुश्रूषा आदि करता था ।

विवेक उत्तरोत्तर डिसपेन्सरी में सम्पूर्ण दिन व्यस्त रहता था । सुबह आठ-नौ बजे चला जाता था और रात्रि के दश-ग्यारह बजे घर वापस आता था । वानीरा को यह " एकान्त " बहुत खटकता था । डिसपेन्सरी से पैसा भी बहुत कम मिलता था, क्योंकि विवेक उदार था, वह दीन-दुखियों की नि:शुल्क इलाज कर देता था ।

एक दिन " असम " के " चाबगान " के एक अंग्रेज मालिक मिस्टर " क्लाइड " की तबियत खराब हो गयी थी । तब डाक्टर विवेक को बुलाया गया । विवेक ने कायदे से दवा-उपचार आदि किया । मिस्टर क्लाइड " ब्लड-प्रेशर " के रोगी थे । दवा से वे ठीक हो गए । क्लाइड खुले मन के उदार व्यक्ति थे । शिकार , हाथी की सवारी तथा मछली-पालन आदि के शौकीन थे । बियर की बोतल के भी आदी थे । एक दिन मिस्टर क्लाइड ने विवेक एवं वानीरा को अपने घर आमंत्रित किया । इस प्रकार क्लाइड महोदय से विवेक एवं वानीरा का अच्छा आत्मीय परिचय हो गया । वानीरा और क्लाइड का एक दूसरे के घर आवागमन प्राय: प्रारंभ हो गया । विवेक के " जन्म-दिनोत्सव " पर संपन्न क्लाइड ने दम्पत्ति को " वेदिंग सूट " का सुन्दर उपहार भी दिया ।

एक दिन संयोग से विवेक बीमार हो गए । सात दिन तक लगातार ज्वराक्रान्त रहे । स्थिति गंभीर हो गयी । सन्निपात भी हो गया । वानीरा अत्यन्त चिन्तित हो गयी । क्लाइड ने वानीरा को समझाया कि विवेक की दशा गंभीर है । अत: उसे कलकत्ता ले चलिए, मैं मिशन अस्पताल " में पूरी व्यवस्था करा दूंगा । वानीरा ने विवेक को राय दी कि वह उपचारार्थ कलकत्ता चले । अर्थाभाव से विवेक विवश था । अन्तत: वानीरा " के आग्रह पर विवेक को कलकत्ता जाना पड़ा यद्यपि वह मन से जाना नहीं चाहता था ।" पुरी " छोड़कर दम्पत्ति कलकत्ता गए । विवेक मिशन अस्पताल " में कई दिनों तक हम भर्ती रहा, और उचित इलाज होने

से पूर्ण स्वस्थ भी हो गया । विवेक की बीमारी के अन्तराल में क्लाइड और दोनों साथ-साथ खूब टहलने घूमते तथा आनन्द क्रीड़ा आदि में रत रहते थे । यहाँ पर उपन्यासकार ने क्लाइड के चरित्र को पर्याप्त संभाला है, क्योंकि उसमें कोई " अपराध-बोध " नहीं दिखाया है । दोनों का प्रेम शुद्ध प्रेम ही कहा जा सकता है ।

यहीं पर " छिबूगढ़ " में क्लाइड के आग्रह पर तथा वानीरा की रुचि के कारण विवेक को यहाँ पर अपनी " डिसपेन्सरी " खोलनी पड़ी । यहाँ पर क्लाइड के सहयोग और वानीरा की कुशलता से विवेक की डिसपेन्सरी पर्याप्त पैसा देने लगी । वानीरा रोगियों से पूरा पैसा ले लेती थी । विवेक केवल रोगियों की जांच करके, दवा देता था । शेष सारा कार्य " वानीरा " ही करती थी ।

इसी स्थान पर विवेक-वानीरा -दम्पति से " मेजर आनन्द से परिचय होता है । एक दिन मेजर आनन्द ,क्लाइड और वानीरा शिकार के लिए मनोरंजनार्थ जंगल में जाते हैं । संयोग से वर्षा होने लगती है । वे लोग घर लौट नहीं पाते हैं । रात हो गयी । रात की बनैली नीरवता में मेजर आनन्द के अद्भुत व्यक्तित्व के जाल में उलझकर, वानीरा न चाहते हुए भी अनिश्चय की स्थिति में अपने को सौंप देती है । तात्पर्य यह कि वानीरा ,मेजर आनन्द की काम-लिप्सा की शिकार बन जाती है । शिकारी ने शिकार कर ही लिया । यहाँ पर कथाकार ने " मेजर आनन्द " में " अपराध-बोध " स्पष्टतः प्रदर्शित कर दिया है । परिणामस्वरूप वानीरा गर्भवती हो जाती है । वह अपने पति विवेक से इस रहस्य को छिपाती है किन्तु उसके छिपाने के बावजूद भी विवेक इस रहस्य को समझ जाता है । पर जानकर भी वह विवश है । इस " अपराध-बोध " के लिए वानीरा की अति स्वच्छन्दता तथा विवेक की अति-सहिष्णुता - दोनों ही समान रूप से उत्तरदायी है ।

एतदुपरान्त, विवेक और वानीरा छिबूगढ़ से इलाहाबाद चले आते हैं । इलाहाबाद आने पर यह स्थिति विस्फोट का रूप ले लेती है । दम्पति के प्रेम में दरार पड़ जाती है । वानीरा एक बार मातृत्व से चूकने के उपरान्त (क्योंकि प्रथम बार वानीरा को अस्पताल में आपरेशन करने पर पुन-

शिशु उत्पन्न हुआ था । मातृत्व की आकांक्षा रखते हुए भी दाम्पत्य प्रेम पार्थक्य से गर्भस्थ तीन मास के अजात पुत्र को मन ही मन कोसने लगती है ।

कुछ समय के उपरान्त दोनों पुन: " पुरी " अपने निवास-गृह " निर्जन-सिक्ता " में लौट आते हैं । पुरी लौटने के बाद से" दोनों वास्तव में दो हो गए थे ।" अब भी वानीरा पहले की तरह अपनी खिड़की से डिस्पेन्सरी जाते हुए विवेक को देखती है, पर अब वह विवेक को अलग तथा उसके जाने को बिलकुल अलग करके देखती है ।

अन्तत: वानीरा अपने किए हुए पर पश्चाताप करती है किन्तु पुनरपि दोनों के बीची अब पति पत्नी का विश्वास शेष नहीं रह गया । समाप्त हो गया ।

उपन्यास का शीर्षक " दो एकान्त " सचमुच सार्थक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि दोनों (वानीरा और विवेक) अन्तत: दो हो गए । दोनों अलग हो गए । दो एकान्त " एक वानीरा का" एकान्त (अकेलापन) और दूसरा विवेक का" एकान्त " (अकेलापन) ।

यह उपन्यास एक प्रकार से मौन पीड़ा की क्लासिकी सिम्फनी है । यह विवेक और वानीरा की प्रेम-कथा है, जिसमें मेजर आनन्द के आ जाने के कारण दरार पड़ गयी है । यह प्रेम से घृणा तक की कथा का अत्यन्त मार्मिक उपन्यास है ।

000000

सांस्कृतिक - बोध :" दो एकान्त " उपन्यास में हमें दो प्रकार का सांस्कृतिक-बोध दिखाई पड़ता है । प्रथम को" भारतीय सांस्कृतिक-बोध " तथा दूसरे को पाश्चात्य संस्कृति से उद्भूत" आधुनिक सांस्कृतिक बोध " कह सकते हैं । भारतीय एवं पाश्चात्य- दोनों संस्कृतियों की अनुगूंज आलोच्य उपन्यास में प्रतिभासित होती है । इसका नायक" विवेक " भारतीय संस्कृति" का संवाहक है । वह लेखक के शब्दों में" वृद्धावृत्ति " का है -- सुखद ,छायायुक्त और स्थिर, जबकि उसकी नायिका" वानीरा " आधुनिक सांस्कृतिक बोध " (पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित) की संवाहिका है -- नितान्त" मेघवृत्ति की है - सजल तथा स्वच्छन्द । वानीरा का जीवन दर्शन - क्षणीयजीविता का है । वह क्षणानन्वोपभोगिनी है ।

उपन्यासकार श्री नरेश मेहता की मानसिकता जहां एक ओर" भारतीय सांस्कृतिक बोध " में पूर्ण आस्था रखती है, वहीं वह वर्तमान यथार्थ बोध को भी नकारती नहीं है । प्रस्तुत उपन्यास में यह सांस्कृतिक-बोध ही है कि प्रमथ बाबू अपनी कन्या" वानीरा" को एक सुयोग सुपात्र" विवेक " को सौंपकर बीतरागी हो गए । वे" प्रमथनाथ मुखर्जी" से सन्यास ग्रहण कर सन्यास-विधि के अनुसार" नित्यानन्द " हो गए । इस सन्दर्भ में लेखक का कथन है कि --" वानीरा को विवेक जैसे सुपात्र के हाथों सौंप कर बिना अधिक प्रतीक्षा किए वह एक दिन स्थानीय" चैत्य-मठ " में जाकर श्री श्री महाप्रभु की सेवा में समर्पित होकर श्री प्रमथ नाथ मुखर्जी से बीतरागी " नित्यानन्द " हो गए ।"[1]

जब कथाकार किसी धार्मिक अनुष्ठान पूजा-पाठ आदि का उल्लेख कर अपनी अभिव्यक्ति को प्राणवान् बनाता है तो उससे उसका सांस्कृतिक - बोध ही अधिक व्यंजित होता है । कालीबाड़ी में " दुर्गा पूजा " की चर्चा करते हुए उपन्यासकार आलोच्य उपन्यास में लिखा है --" कालीबाड़ी में दुर्गापूजा हो रही है । जूड़े में सोने का फूल लगाए वानीरा, महिलाओं की

1-" दो एकान्त " - पंचम संस्करण,1985 पृष्ठ 15, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

भीड़ में खड़ी अद्वितीय लगती है । अष्टमी का चन्द्रमा बांसों और नारियल के झुण्ड में सौम्य है । गौरी को विदा के पद गाए जा रहे हैं । आलाप और मृदंग की थाप से रात बहुत विलम्बित लगती है ।"1

भारतीय वेद, शास्त्र तथा पुराणों के अनुसार " दीन-दुखियों की सेवा " एवं " परोपकार " महाधर्म एवं उदात्त मानव-मूल्य माने गए हैं । " गीता " में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है -

" दरिद्रान् भर कौन्तेय । मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधैः ।। " (गीता)

प्रस्तुत उपन्यास का नायक " विवेक " इसी भारतीय सांस्कृतिक -बोध से प्रभावित होकर अपनी " डिसपेन्सरी " में आए रोगियों को दवा सस्ती तथा निःशुल्क करता है । इस प्रसंग में उपन्यासकार मेहता का कथन है-" ख्याति का कारण दवा का सस्ता होना था । अतिरिक्त इसके और कुछ संभव ही क्या था ? जिन्हें एक जून चावल भी समस्या था, उनसे दवा की लागत तक मानना, विवेक को अन्यायपूर्ण ही नहीं बल्कि अमानवीय लगता था । इसलिए निम्नवर्ग के पास जो था, वह उसे अटूट प्राप्त था और वह थी श्रद्धा । विवेक उन लोगों के लिए डाक्टर से अधिक देवता था ।"2

भारतीय संस्कृति एवं आधुनिक -बोध के अनुसार मनुष्यत्व का चरम विकास ही देवत्व है । सचमुच " विवेक " महामानव एवं देवता है । भारतीय संस्कृति का महोद्घोष है कि -" परोपकाराय सतां विभूतयः ।" डाक्टर विवेक परोपकार की सजीव मूर्ति है । यह रचनाकार का सांस्कृतिक-बोध ही तो है, जो विवेक के लिए " कर्तव्य-बोध " बन गया है । " बानीरा " में आधुनिक सांस्कृतिक -बोध की ही झलक नहीं प्रतिबिम्बित होती, बल्कि वह

1-" दो एकान्त " - वही, पृ० 19

भारतीय प्राचीन " चार्वाक-दर्शन " की पोषिका ही प्रतीत होती है ।
चार्वाक-दर्शन का प्रमुखतम सिद्धान्त है -

" ऋणं कृत्वा घृतं पीबेत् , भस्मीभूतस्य देहस्य
पुनरागमनः कुतः । "

अर्थात् ऋण करके भी घी पीना चाहिए, क्योंकि इस नश्वर शरीर की पुर्नप्राप्ति संभव नहीं है । इस उपन्यास की नायिका " वानीरा " भी " खाओ , पीयो और मौज उड़ावो " के आदर्श-वाक्य में पूर्ण निष्ठावती है । उपन्यासकार के शब्दों में वह कहती है - लोग है, सुख सुविधाओंवाली गृहस्थियां हैं । वैभव की एक चमक होती है जिसे अस्वीकारा नहीं जा सकता तथा इन सब में सर्वोपरि है, भोग । बिना भोगे तो यह धूप, आकाश, घर, गृहस्थी सब व्यर्थ है । जिस प्रकार अनभोगी नारी किसी अर्थ की नहीं, वैसे ही अनभोगा पुरुषार्थ नपुंसकता है । "1

कभी-कभी उपन्यासकार का सांस्कृतिक बोध अपने देश के अतीतकालीन इतिहास-पुराण आदि के चित्रण के माध्यम से भी अभिव्यक्त होता है । मेहता जी ने प्रस्तुत उपन्यास में " विवेक " तथा " मेजर आनन्द " के संवाद के द्वारा अपना सांस्कृतिक -बोध ऐतिहासिक बातों के माध्यम से प्रकट किया है —

" डाक्टर विश्वास । अभी-अभी कुल सौ बर्ष पहले बौद्ध अशोक का धर्म प्रयास बीता था । कलिंग में अशोक के आक्रमण के बाद पुर्नजागरण आया और वहां सम्राट खारवेल जैसा प्रतापी सम्राट हुआ । ठीक इसी समय मौर्य-साम्राज्य की बागडोर निर्वीर्य वृहद्रथ के हाथों में आयी । पुष्यमित्र शुंग इसी का सेनापति था ।"2

स्पष्ट है कि उपन्यासकार ने इतिहास के वर्णन में अपनी विगत संस्कृति का प्रतिबिम्ब देखने का प्रयास किया है । वस्तुतः इतिहास के गवाक्ष से हम अपनी संस्कृति के स्वरूप को झांक सकते हैं ।

1- " दो एकान्त " - वही, पृ० 46
2- वही, पृ० 89

आलोच्य उपन्यास में लेखक " गायत्री मन्त्र " " ब्रह्माण्ड " " चराचर " " विराट " आदि सांस्कृतिक शब्दों के प्रयोग से अपने सांस्कृतिक -बोध की अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है -- " शायद इसी अर्थ में गायत्री मन्त्र की सृष्टि हुई है कि हम अपने बंद, बीमार, चिंतित वातावरण से निकलकर दिन में एक बार पृथ्वी, ब्रह्माण्ड एवं चराचर को साक्षात स्वीकार कर विपुलता का अनुभव कर पुर्नशक्ति का अनुभव करें । जब कभी भूल से या अनायास निखिल का साक्षात हो जाता है तब हममें कैसा स्फूर्त विराट आ बसता है और अपने आसपास का वातावरण, लोग समस्यायें कैसी क्षुद्र, नगण्य लगने लगती है । "[1]

यहाँ पर रचनाकार यह बताता है कि अन्तर्मुखी हो जाने पर व्यक्ति में विराट सत्ता का आलोक स्फूर्त हो जाता है और तब यह बाह्य-जगत उसे नगण्य सा प्रतीत होने लगता है । यह भारतीय संस्कृति की स्थापना तथा मान्यता है ।

यह सांस्कृतिक बोध ही है कि नायक विवेक सामाजिक मूल्यों एवं मर्यादाओं की रक्षा के लिए ही " वानीरा " के अमर्यादित कुकृत्यों पर भी उसे त्यागता नहीं है । वह सोचता है कि मेरे संबंध विच्छेद की विकट स्थिति में वानीरा लोक द्वारा लांछित आरोपित हो उठेगी । वह हार्दिक ग्लानि का कठोर विष पी जाता है किन्तु सांस्कृतिक - सामाजिक मूल्यों की रक्षा करना चाहता है । वह मन स्ताप से उद्वेलित होकर वानीरा से कहता है -

" ठहरो वानीरा । मुझे कोई जिज्ञासा नहीं, इसलिए कि हमारे बीच अब पति-पत्नी का विश्वास नहीं शेष है । मैं सामाजिक मुखोश उतार फेंकने के लिए कभी नहीं कहूँगा, किन्तु इतना मेरा आग्रह अवश्य है कि हम अपने लिए घोषित रूप में सम्बन्धों को उतार फेंके - लेकिन संबंध के रथ पर से पहले तुम्हें उतरना होगा, इसलिए कि तुम्हारी सुरक्षा का दायित्व मैंने एक दिन लिया था । "[2]

1- " दो एकान्त "- पंचम संस्करण, 1985, पृष्ठ 161

2- वही, पृ० 179

यहाँ पर नायक विवेक का सांस्कृतिक बोध एक आदर्श भारतीय महापुरुष का सांस्कृतिक बोध बन जाता है । भारतीय संस्कृति की यही गरिमा हमारी अस्मिता का उच्चादर्श है ।

स्थितियों के दुर्दान्त जाल में फँसने के बावजूद भी वानीरा को धुला-धुला और पवित्र बनाए रखना उपन्यासकार के भारतीय श्लाघ्य सांस्कृतिक-बोध का ही परिचायक एवं द्योतक है । यह सांस्कृतिक बोध-आलोच्य उपन्यास की विशिष्टता एवं क्षमता है, जो उपन्यास के अर्थ को गहराई देता है और सामंजस्य अथवा समरसता को नयी चेतना से समझने को बाध्य करते हुए पाठकीय संवेदना को वानीरा के पक्ष में अधिक पवित्र बनाता है ।

इस प्रकार ' दो एकान्त ' का नायक विवेक मानवीय धरातल पर उदारता की व्यंजना कर आदर्श सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करता है।

0000

उदयन की किशोरावस्था में चलपन कम और गंभीरता अधिक है किन्तु सारे विकास क्रम में वह अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती है ।" नदी यशस्वी है " यह उपन्यास रचनात्मक संगठन की दृष्टि से प्रथमकोटि के उपन्यासों में अपनी शक्तिमत्ता रखता है । उदयन का भटकाव ऐसा मालूम पड़ता है कि" मातृत्व की खोज के लिए है । वह काकी माँ से मिलते समय यही बात बताता भी है । सुनन्दा की " मौन मुखरता और" मुखर मौनता " अद्भुत तथा विलक्षण है ।

सांस्कृतिक-बोध :

" नदी यशस्वी है " --- इस उपन्यास में नरेश मेहता का " सांस्कृतिक बोध " पात्रों के माध्यम से प्रचुरांश में उभरा है । इसमें सांस्कृतिक एवं परम्परागत सामाजिक मूल्यों के प्रति निष्ठा प्रदर्शित की गयी है । इस उपन्यास की " किरण " और " कावेरी " नारी के आदर्शों का अनुकरण कर सामाजिक मूल्यों के परम्परागत स्वरूप की अभिव्यक्ति करती है ।

" नदी यशस्वी है" --- उपन्यास का नायक" उदयन आदर्श मूल्यों को परम्परानुसार ग्रहण कर सांस्कृतिक मूल्यों में आस्था रखता हुआ नैतिकता का ही पक्ष समर्थन करता है ।[1]

नरेश मेहता के उपन्यासों में मूल्य-हीनता की प्रवृत्ति के विरोध में आक्रोश व्यक्त हुआ है । आलोच्य उपन्यास का" मास्टर रामलाल की दृष्टि सांस्कृतिक बोध से युक्त है । उसके विचार सांस्कृतिक मूल्यों के आस्था रखनेवाले हैं ।

सत्य तो यह है कि नरेश जी का भारतीय सांस्कृतिक बोध प्रस्तुत उपन्यास में मास्टर रामलाल, उदयन, किरण एवं कावेरी आदि के माध्यम से पर्याप्त अभिव्यक्त हुआ है । शोध-ग्रन्थ के विस्तार के भय से संकेत मात्र ही कर देना समीचीन प्रतीत होता है ।

1-"नदी यशस्वी है -- पृष्ठ 147

" नदी यशस्वी है " का प्रतीक यह ध्वनित करता है कि नर्मदा नदी का विपुल विस्तार एवं प्राकृतिक सौन्दर्य उपन्यास के प्रमुख पात्रों - उदयन, सुनन्दा तथा कावेरी आदि में सात्विक एवं उदात्त मानव मूल्यों को जागृत करते हैं । अस्तु, नर्मदा नदी वास्तव में यशोमयी है अर्थात् यश को प्राप्त करने की पूर्ण अधिकारिणी है क्योंकि उसने पात्रों में उज्ज्वल- मूल्यों की अवतारणा की है ।

" धूमकेतु एक श्रुति "

श्री नरेश मेहता का यह उपन्यास सन् 1963 ई० में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली से प्रकाशित हुआ । इसमें कथा नाम की कोई घटना या वस्तु नहीं है । केवल स्मृतियाँ हैं जो " परिवार ", समाज " और "परिवेश " को जोड़कर एक जीवन और जगत के संघर्ष को उभारती हैं । बालक की समझ तथा उसका सर्वांगीण विकास उसकी स्मृतियों के क्रम तथा पहचान के माध्यमों से पहचाना जा सकता है । इसी विचार-श्रृंखला में यथार्थ-बोध और बालक के प्रश्न भी उभरते हैं । कालिन्दी वेश्या, इच्छा शंकर, बाल-विधवा बल्लभा बुआ, उदयन, उदयन की माँ पंडित लज्जाशंकर तथा अड़ोस-पड़ोस के बच्चे और समवयस्कों के माध्यम से अनेक प्रकार के सम्बन्धों की व्याख्या स्थितियों के प्रति प्रश्न चिन्ह - जैसे बाल-विधवा वल्लभा बुआ का वत्सल प्रभाव और स्थिति के सन्दर्भ में उपजे हुए, प्रश्न एवं जिज्ञासा — एक समस्या का, एक खोखली व्याख्या का और नारी वर्ग की मौन पीड़ा का गहरा तथा तर्क की सीमा के परे का अनुभव कराते हैं ।

इसमें प्राय: " उर्द " की स्मृतियाँ ही यथार्थ-बोध की पहचान का कारण बनती है । परन्तु इन स्मृतियों के माध्यम से अधिकतर " व्यक्ति बनाम समाज और परिवार " का ही संघर्ष निर्वाचित होता है । इन्हीं के अन्तर्विरोध उभरते हैं । इस उपन्यास की एक महत्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि प्रकृति और तथ्य की चित्रात्मक शक्ति का उभार प्रशंस्य है । चित्र निर्माण की अपूर्व क्षमता आलोच्य उपन्यास की शक्ति का प्रमाण है ।

सांस्कृतिक - बोध :

प्रस्तुत उपन्यास में परम्परागत सांस्कृतिक ~~----~~ मूल्यों की उपलब्धि होती है, जो सामाजिकता को नवीन परिष्कार से ग्रहण करने के स्थान पर स्थापित मूल्यों को प्रतिष्ठा देता है । इस उपन्यास की " कालिन्दी " वेश्या होते हुए भी पवित्र है । इसीलिए वह अपने प्रेमी " इच्छाशंकर " से कहती है

" मेरे लिए आप संयम हैं, भोग नहीं । भोग होते तो कभी का भोग लिया होता ।"[1]
प्रेम संबंधों में कालंदी मर्यादा तथा नैतिकता के सांस्कृतिक मूल्यों का उद्घाटन करती है । वह अपने प्रेमी इच्छाशंकर को" भोग " न मानकर" संयम " ही मानती है । यह उसका सांस्कृतिक-बोध है ।

आलोच्य उपन्यास में सांस्कृतिक-बोध से प्रभावित होकर बाल-विधवा वल्लभा, उदयन की माँ, पंडित इच्छाशंकर आदि अपने हृदय की पवित्रता से शान्ति के निमित्त ईश्वर में आस्था रखते हैं । इन पात्रों की दृष्टि सदैव ही मानवीय उदारता से युक्त रहती है तथा संसार के कल्याण के निमित्त " उदात्त मानव मूल्यों " की प्रतिष्ठा में संलग्न रहते हैं । ये पात्र मानवीय मूल्यों की गरिमा प्रदान करते हैं । यह सर्व व्यापक दृष्टि इनके व्यक्तित्व को महत् रूप में परिणत कर देती है । इस उपन्यास के पुराणी जी " सिद्धनाथ आचार्य " देवास के राजा के बुलाने पर भी, निर्भीकता से अपनी अस्मिता एवं स्वत्व को व्यंजित- प्रदर्शित करते हुए कह देते हैं — " ब्राह्मण का धन उसका तेज है, जिसे वह त्याग से, तपस्या से प्राप्त करता है । मुझे न राज सम्मान चाहिए, न राज्याश्रय । जितने का पात्र है, भगवान उतना देते हैं । सिद्धनाथ आचार्य ने भगवान को समर्पण किया है । अब भला इन राजा-महाराजाओं की क्या चिन्ता ?[2]

वस्तुतः पुराणी जी का यह उद्घोष उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों एवं उत्कृष्ट मानवीय मूल्यों के प्रति समर्पित होने का ही प्रतिफल है । ईश्वर के प्रति ऐसी ही उत्कट निष्ठा सांस्कृति-मूल्यों की प्रतिष्ठापिका होती है ।

निष्कर्षतः शोध-ग्रन्थ के विशाल-काय, होने के भय से इसका अतिविस्तार न करके, हम यही कहना चाहते हैं कि" धूमकेतु एक श्रुति " में उपन्यासकार का" सांस्कृतिक-बोध , पर्याप्त उभर कर उसकी सांस्कृतिक-निष्ठा को व्यक्त करता है ।

1-" धूमकेतु एक श्रुति "- पृष्ठ 284

2- वही, पृष्ठ 256

" धूमकेतु : एक श्रुति " - उपन्यास का यह शीर्षक " प्रतीकात्मक " है । " धूमकेतु" का अर्थ " पुच्छलतारा " है जो ज्योतिष शास्त्र के अनुसार " अमंगल एवं अशुभ का सूचक माना जाता है और " श्रुति " जिसका अर्थ " वेद " है - वेद " पवित्रता " का बोधक है । इस प्रकार इसका प्रतीकार्थ यह हुआ कि -" भारतीय परम्परागत मान्यता के अनुसार अशुभ या अपवित्र मानी जानेवाली " वेश्या " - " कालिन्दी वेश्या " -- वेद की भांति अत्यधिक " पवित्र " प्रमाणित हो गयी । धूमकेतु (पुच्छलतारा) सदृशा अपवित्र और अशुभ मानी जानेवाली " कालिन्दी वेश्या" वेदोपम परम पवित्र है । अस्तु " धूमकेतु एक " वेद " (श्रुति) हो गया । अपावन मानी जानेवाली " नारी " पावन हो गयी ।

0000

" यह पथ बन्धु था " उपन्यास और उसका सांस्कृतिक-बोध "

सर्वप्रथम हम" यह पथ बन्धु था " उपन्यास के सांस्कृतिक-बोध पर प्रकाश न डालकर वर्तमान हिन्दी उपन्यास के " ढांचे " तथा नरेश मेहता के " कथा शिल्प को संक्षेपत: अनुरेखित कर रहे हैं ।

वर्तमान काल में हमारे हिन्दी-साहित्य में हमारे पास " उपन्यास का जो ढांचा है, वह पश्चिम के" नावेल " का ही ढांचा है । " आधुनिक-काल " पर पाश्चात्य विचारधारा वहां हो रहे व्यापक परिवर्तनों प्रमुख घटनाओं का गहरा प्रभाव है । पहली बार पाश्चात्य संस्कृति ने हमारे सोच और हमारे लेखन को भीतर और बाहर से पूरी तरह प्रभावित किया है । हमारी जीवन-पद्धति और हमारे दृष्टिकोण में ऐसा हस्तक्षेप पहले कभी नहीं हुआ । पश्चिम ही हमारा" आदर्श " और हमारे लिए अनुकरणीय" बन गया ।

सर्वप्रथम हम यह देखना चाहेंगे कि काल के सन्दर्भ में भारतीय और पाश्चात्य अवधारणा क्या है ? और यदि दोनों अवधारणाएं भिन्न हैं, तो इससे क्या अन्तर पड़ता है ?

पश्चिम मानता है कि काल की गति लम्बवत है, वह एक सरल रेखा में गमन करता है । वह सरल रेखा किसी एक बिन्दु से आरम्भ होती है और इस रेखा का यदि कोई प्रस्थान बिन्दु है तो यह रेखा कहीं न कहीं, चाहे काल की अवधि कितनी ही दीर्घ क्यों न हो, समाप्त भी होगी । इस रेखीय गति में जिस बिन्दु पर जो घट जाता है वह घटकर उस कालावधि में समाप्त हो जाता है । इस धारणा को स्वीकार करने पर हम अपने अतीत को लौटाकर नहीं ला सकते — ठीक उसी तरह जिस तरह घड़ी की सुइयां आगे-पीछे घुमाकर ठीक कर लेते हैं । अंजलि का जल,जलकी धारा को सौंप कर उसी जल को पुन: अंजलि में लेने की कितनी ही कोशिश करें, जल तो हमारी अंजलि में होगा,

परन्तु वही जल नहीं होगा जो पहले हमारी अंजलि में था, क्योंकि वह तो बह चुका है । अब जो जल है, वह नया जल है । सरल रेखीय गति में सब कुछ इसी तरह होता है । जो काल व्यतीत हो चुका है, वह चाहे कैसा ही स्वर्ण काल क्यों न हो, न तो उस काल में लौट सकते हैं और न ही उस काल को लौटा सकते हैं ।

इस काल के प्रतिकूल काल की हमारी भारतीय अवधारणा राष्ट्रीय है । इस अवधारणा से हर बिन्दु आरंभिक बिन्दु है और जहां कोई घटना समाप्त होती है वही आरंभ का नया बिन्दु भी है । अत: इस अवधारणा में सातत्य है ।

भारतीय कथा-साहित्य भी अपनी प्रकृति में आवृत्तिपरक रहा है । यह आख्यान की परम्परा भी मूलत: आवृत्ति ही है । इसे विश्व कथा-साहित्य ने भारत की विशिष्ट देन माना गया है । जहां से कथा का आवर्तन होता है कथा अन्त में फिर वही लौट आती है । इस वृत्त में कथाओं के और भी वृत्त बनते जाते हैं । कथाओं के भीतर कई कई कथाओं का विकास होता है । " कथा-सरित -सागर " और " पंचतंत्र " का कथा-शिल्प भी यही है । हमारे पुराणों में भी आख्यान इसी तरह कथा-शृंखलाओं में मिलते हैं ।

यही कथा-शिल्प नरेश मेहता के उपन्यासों का भी है । कथाओं में कथायें अनुस्यूत हैं । एक दूसरे में गुंथी हुई कथाओं का सिलसिला निरन्तर चलता है । इस चक्रीय -गति में चूंकि अन्त नहीं है, इसलिए समाप्त हो जाने पर रिक्तता का बोध भी नहीं होता और न कुछ खो जाने का विषाद । भारतीय चिन्तन में इसीलिए मृत्यु को " देहान्तरण " माना गया है । जिस प्रकार हमें पुराने वस्त्र त्यागकर नूतन वस्त्र धारण करने मेंक कोई दु:ख नहीं होता, इसी तरह आत्मा शरीर का वस्त्र बदलती है । जहां मृत्यु होती है, उसी बिन्दु पर पुनर्जन्म होता है ।

सारांश यह है कि नरेश मेहता के उपन्यासों का " कथा-शिल्प " भी भारतीय सांस्कृतिक-बोध या भारतीय कथा परंपरा के सर्वथा अनुसार ही है ।

नरेश जी के महत्वपूर्ण उपन्यासों को पढ़ने पर लगता है कि वे एक ही रचना हैं । देखा जाए तो " यह पथ बन्धु था ", " धूमकेतु एक श्रुति " - " नदी यशस्वी है " और " उत्तर-कथा " के दोनों खण्डों को मिलाकर नरेश जी के कथा-साहित्य का एक महावृत्त पूरा हो जाता है । यों इन अलग-अलग उपन्यासों का भी आरंभ-बिन्दु एक ही है समय की दृष्टि से । नाम चाहे वे पात्रों के हों या स्थानों के, थोड़े उलट-पुलट के साथ वे भी एक से ही है । " यह पथ बन्धु था " की " सरो " और " उत्तर-कथा " की " दुर्गा " — के चरित्र में कोई विशेष अन्तर नहीं है । दुर्गा और सरो एक दूसरे में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ।

नरेश मेहता के उपन्यास :

नरेश जी ने कुल " सात " उपन्यास लिखे हैं - (1) यह पथ बन्धु था " (2) " धूमकेतु एक श्रुति " (3) " नदी यशस्वी है " (4) " उत्तर-कथा " (5) दो एकान्त (6) " प्रथम फाल्गुन " और (7) " डूबते मस्तूल " ।

इनमें " यह पथ बन्धु था ", " धूमकेतु एक श्रुति ", " नदी यशस्वी है " और " उत्तर-कथा " नरेश जी का सृजन है और " दो एकान्त " प्रथम फाल्गुन तथा " डूबते मस्तूल " उनके लेखन हैं । लिखना तो अभ्यास से भी संभव हो सकता है परन्तु सृजन केवल अभ्यास की बात नहीं है । नरेश जी के शब्दों में कहें तो " यह संपूर्ण अवगाहन है । "कहने का मूल मन्तव्य यह है कि नरेश जी के प्रथम चार उपन्यास भारतीय दृष्टि क उपन्यास हैं । हिन्दी में तो कम से कम नरेश जी के उपन्यास ह ही भारतीय दृष्टि एवं भारतीय सांस्कृतिक -बोध का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

आधुनिक होने या कहलाने के अत्युत्साह में हमने अपनी निजता, अस्मिता को ही छोड़ या खो ही दिया । अपनी निजता में भी हमारी एक भारतीय पहचान थी, पर इस निजता को कूप-मण्डूकता का पर्याय मान लिया गया । इस तरह भारतीयता और भारतीय संस्कृति को लेकर जिन बुनियादी सवालों को लेकर जूझना था और अपना परिष्कार करते जाना था, लेकिन वे

लेखन
क्षेत्र में यह काम भी नहीं हो सका । लेखन एवं राजनीति से केवल नारे प्रधान हो गए । यही नहीं, भारतीयता के प्रति वितृष्णा भी पैदा हो गयी । अतः नरेश मेहता की दृष्टि पूर्णतः भारतीय अस्मिता और सांस्कृतिक- गरिमा को आत्मसात किए हुए औपन्यासिक कृतियों का सृजन करती है ।

" यह पथ बन्धु था "

" यह पथ बन्धु था " उपन्यास संवेदनात्मक स्तर पर निःसन्देह सांस्कृतिक-बोध से सम्पृक्त है । इसमें ईश्वरीय सत्ता, कथा-कीर्तन, जप-यज्ञ पूजा-पाठ, धार्मिक आस्था, भाग्य, नियति, उदात्त मानव-मूल्यों में निष्ठा तथा अन्य अनेक सांस्कृतिक-अनुष्ठानों आदि का प्रसंगानुसार विवेचन विश्लेषण किया गया है । रचनाकार वैष्णव-भक्त है । अतएव भारतीय सांस्कृतिक उद्गार उसकी रचना में स्वभावतः प्रस्फुटित हो गए हैं ।

आलोच्य उपन्यास की मूल दृष्टि सांस्कृतिक-दृष्टि है । क्योंकि इस उपन्यास में सम-सामयिक संकट के माध्यम से सांस्कृतिक संकट का संकेत किया गया है । सांस्कृतिक संकट को मूल्यों और आस्थाओं के इस आकार- प्रकार से अलग करके इस पूरी व्यवस्था को इतिहास और सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में रखकर देखने का रचनाकार संकेत भी करता है । इस उपन्यास का नायक श्रीधर जब सोचता है कि —" लेकिन क्या वह नहीं जानते थे कि जिन अस्त्रों को लेकर वह जीवन लड़े थे वे आदर्श थे । आदर्शों का मुलम्मा तो पहली ही चोट में उतर जाता है । युधिष्ठिर आदर्श थे, इसलिए मात्र निमित्त थे । महाभारत युधिष्ठिर ने नहीं जीता । वह तो कृष्ण, अर्जुन थे, जिन्होंने किसी भी नीति को पालन करनेवाली नीति को अपना कर युद्ध जीता था ।"[1]

इस प्रकार उपन्यासकार श्रीधर के द्वारा संकेत करता है कि क्यों " सत्य " सदा से बलिदान होता आया है ? इसका उपाय क्या है ? मूल्यों और आदर्शों के आधार के हट जाने का परिणाम कितना भयानक होगा, यह यथार्थ -बोध के आधार पर सांस्कृतिक और मानवीय समस्या के रूप में संकेतित किया गया है । इस प्रकार " यह पथ बन्धु था " का यथार्थ-बोध एक सांस्कृतिक-बोध

1-" यह पथ बन्धु था ", पृष्ठ 319

का चिन्तन है । कदाचित इसीलिए अधिक केन्द्रित और गहरा भी है । आलोच्य उपन्यास की यही सांस्कृतिक गरिमन विशेषता बन गयी और इसी के कारण यह उपन्यास एक महत्वपूर्ण कृति बन सका है ।" मनुष्यता का इतिहास " तो यह नहीं बन सका, परन्तु" सांस्कृतिक संकट तथा मानवीय मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का इतिहास " अवश्यमेव बनने की क्षमता रखता है ।

यथार्थ का बोध , एक सांस्कृतिक बोध है । इसे मानवता के अस्तित्व से जोड़कर देखा जा सकता है । आदर्श एवं मूल्यों की असार्थकता और यथार्थ का यह अमानवीय रूप एक आदर्श के मूल्य की अनिवार्यता को भी इंगित करता है । इस उपन्यास में यही नहीं है कि" मूल्य " टूट रहे हैं बल्कि सत्य, नैतिकता आदि निस्सार हो गए हैं । जो इन सांस्कृतिक और शाश्वत मूल्यों के प्रति निष्ठावान है । वे यह जानते हैं कि ईमानदारी और सेवा का महत्व है । अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है । इन मूल्यों के कारण वे यथार्थ से समझौता नहीं कर पाते किन्तु जीवन की कठोर आवश्यकता उन्हें ऐसा होने को बाध्य करती है । श्रीधर का न बोलना और हर प्रश्न पर मौन-लगता है जैसे इसी चिन्तन का परिणाम है ।

इन्हीं कारणों से इस उपन्यास की मूल दृष्टि एक सांस्कृतिक दृष्टि हो जाती है । इस प्रकार" यह पथ बन्धु था " यथार्थ को भी बीमार और पतित सिद्ध करता है । आदर्श और मूल्यों की निस्सारता — कैसे दूर की जा सकती है ? इसका निदान क्या है ? आदि प्रश्न सांस्कृतिक संकट के दूर करने की तलाश करना चाहते हैं ।

इस सांस्कृतिक दृष्टि को इस आस्था को और इस आस्था के प्रति समग्र रूप में अपने को उत्सर्ग कर देने की भावना रखनेवालों की निष्ठा निःसन्देह महत्वपूर्ण है । इस उपन्यास में निष्ठा और अनिष्ठा, अनास्था और आस्था का द्वन्द्व एक सांस्कृतिक से मानवीय समस्या के रूप में सम्प्रेषित होता है श्री नेमिचन्द्र जैन भी इस सांस्कृतिक महत्ता और आस्थावान दृढ़ता को अपने तरीके से स्वीकार करते हैं । वे इस उपन्यास में" भागवत उष्मा " को

स्वीकार करते हुए कहते हैं कि " यह पथ बन्धु था " में श्रीधर और सरो के अतिरिक्त इन्दु, मालिनी, किशन , रतना आदि सभी व्यक्ति अपनी-अपनी आस्थाओं के लिए अपने अपने स्तर मूल्य चुकाते हैं । यहाँ तक कि पेमेब, कौर्तनियाजी श्रीधर की माँ, गुणवन्ती सब का जीवन एक न एक स्थल पर आकर पंगु और व्यर्थ हो जाता है । इस दृष्टि से बड़ी गहरी उदासी और" करुणा" सारे उपन्यास में परिव्याप्त है । सहृदयता और सच्चाई के लिए, निष्ठा और ईमानदारी के लिए कहीं कोई स्थान नहीं । दूसरी ओर इस उपन्यास में इतने सारे व्यक्ति अपने प्रति, अपनी मान्यताओं के प्रति सच्चे बन रहते हैं, टूट जाते हैं, पर झुकते नहीं । यह निःसन्देह परोक्ष ढंग से" जीवन के मूल्यों " में गहरी आस्था का ही संकेत करता है । इन सब ईमानदार व्यक्तियों का सफलता के लिए समझौता कर लेना कहीं अधिक निराशाजनक और दुर्भाग्यपूर्ण होता । मानवता का इतिहास एक स्तर पर ऐसे ही अनगिनती साधारण लोगों की निष्ठा का और उस निष्ठा के प्रति समर्पित हो सकने का इतिहास है । वे ही, श्रीधर जैसे लोग ही, उस इतिहास के निर्माता भी हैं और लेखक भी ।"[1]

भारतीय मानस की प्रकृति और गति को सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने पर नरेश जी के" यह पथ बन्धु था " में श्रीधर, सरो आदि ही मिलते हैं । सहते जाना ही जिनकी नियति है क्योंकि अनास्था और विद्रोह तो ईश्वर की इच्छा में समाप्त होते हैं । यदि सब कुछ का हेतु दूसरे को मान लिया जाता है और अच्छे तथा बुरे - सारे कर्मों का दायित्व ईश्वर पर छोड़ दिया जाता है, तो निराशा तथा आशा का प्रश्न ही नहीं उठता है । श्रीधर, श्रीधर के पिता ठाकुर श्रीनाथ तथा सरो सभी" हरि इच्छा " की भावना से अनुप्राणित अवश्य हैं । समस्त संकट के बाद इस विचारधारा का न टूटना और व्यक्तित्व के टूटे जाते हुए भी आश्रय की खोज-यह इस सांस्कृतिक मानस का परिणाम है । मौन होकर सहते जाना भी एक सांस्कृतिक परिणति है । इसके मूल में भारतीय संस्कृति के विशेष तत्व अन्तर्निहित है, जिन्होंने एक विशेष प्रकार के दिमाग का निर्माण किया है, जिसे शीतरामता और मौन सहनशीलता की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । आलोच्य उपन्यास

1- विवेचना - संकलन " - नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ 69

में यथार्थ के इस बोध के पश्चात भी इन्दु, मालिनी तथा श्रीधर का ईश्वर की स्थिति और कर्म फल की आशा एक भारतीय मनोवृत्ति का प्रमाण है, जो कदाचित व्यक्ति को दु:खी बनाकर भी जिन्दा रहने और देखते चलने को बाध्य करती है । प्रस्तुत उपन्यास की मूल समस्या यही निष्कर्षित होती है कि यह पथ तो किसी न किसी प्रकार मानवता का बन्धु था किन्तु आगे का शेष पथ क्या होगा ? यह सांस्कृतिक-बोध उपन्यासकार के इस उपन्यास में अत्यधिक गहराई से उभरा है । यथार्थ की रचना में " संस्कृति " की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है -- इस पर विवेच्य सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए डा० सत्य प्रकाश मिश्र ने लिखा है --" संस्कृति का तात्पर्य इसी से है कि प्रत्येक पात्र और उसके चरित्र में भारतीय संस्कृति मूलभूत विशेषताओं के अतिरिक्त शब्दों और वाक्यों से संकेतित अर्थ समूहों में भी उसका संस्कार है । मालवा और इन्दौर के अन्तर को तथा मालवा और सोरों के अन्तर को एक संस्कार का अन्तर मानते हैं । श्रीधर के लिए इसीलिए कहा जाता है कि श्रीधर के मालवा के अंचल में, ग्रामीण व्यवस्था में मनुष्य को देखने का उसे समझने का एक दूसरा ही माध्यम है और इन्दौर दूसरा ही । एक के मूल में सम्पन्नता, विपन्नता यानी अर्थ और पद का महत्व है, तो दूसरी सहज संस्कृति में सहज मानवीयता । इसे सभ्यता और संस्कृति के रूप में भी व्याख्यायित किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त पिता श्रीनाथ ठाकुर की " हरि इच्छा " और उनकी इच्छित मृत्युरतथा श्रीधर की माता की इच्छित मृत्यु में भी एक सांस्कृतिक विचारधारा का ही महत्व है ।"[1]

गुणवन्ती (गुनी) के साथ ससुर की दुर्दशा तथा उसके पति की रुग्णता" कर्म फलवादिता " को अभिव्यक्त करती है । श्रीधर की माता एवं सरो इसे " ईश्वरीय न्याय " कहकर सन्तोष भी करती है । धर्म की ऐसी मान्यता - लोगों की प्रकृति बनकर सांस्कृतिक हो गयी है ।

1-" यह पथ बन्धु था " एक अध्ययन : डा० सत्य प्रकाश मिश्र, पृ० 125

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आदर्श, सत्य, सरलता, ईमानदारी आदि श्रेष्ठ मानव-मूल्य ठोस यथार्थ के समक्ष जीवित नहीं रह पा रहे हैं । वस्तुत: श्रीधर ,श्रीधर के माता-पिता , सरो,विशन,रतना, मालिनी,नारायण बाबू आदि एक न एक प्रकार के " आदर्श " को लेकर जीते हैं और सब किसी न किसी प्रकार उसका दुष्परिणाम भोगते हैं । इस प्रकार आलोच्य उपन्यास यह इंगित करता है कि आज के परिप्रेक्ष्य में शाश्वत सांस्कृतिक मूल्य संकटापन्न स्थिति में पड़ गए हैं । सभी आदर्शनिष्ठ पात्रों के आदर्श, सत्य, साहस एवं कर्तव्य-निष्ठा आदि अर्थहीन एवं मूल्यहीन हो गए हैं । इसी अर्थ तथा ध्वनि के कारण प्रस्तुत उपन्यास एक " सांस्कृतिक उपन्यास " है जो आदर्श, ईमानदारी,सत्य ,नैतिकता को उनकी मूल्य-हीनता एवं निरर्थकता के सन्दर्भ में रखकर यथार्थ की निमर्म भूमि और उसकी अर्थ प्रधान अमानवीय प्रवृत्ति को एक सांस्कृतिक-संकट के रूप में एक संक्रमण की दशा में सम्प्रेषित करता हैं । जीवन भर संघर्ष से जूझने के उपरान्त " श्रीधर को लगता है कि उसका पुरुषार्थ नपुंसक का पुरुषार्थ था । वह जिन आदर्शों को पुस्तक में पढ़कर बाहर लोगों के बीच गया था, वे सड़े हुए थे । किसी को पुस्तक के आदर्शों की आवश्यकता नहीं होती सरो ? जीवन पढ़नेवाला यह मारवाड़ी है जिसने तुम्हारे बगल में कोठी बनवायी है । तुम्हारे सेठ ने कोई किताब नहीं पढ़ी है इसलिए सफल है । सुखी है । चीजें उन्हें घेरे हुए चमक रही होती है । हमने तुमने पुस्तक पढ़कर अपनी टपकती छतों को चूने से कैसे रोका जाए, यह तक नहीं सीखा । कटोरिया और थाली रखकर वृष्टि की इन टपकती बूंदों को कहां तक रोकिएगा प्रिये ? इसके लिए आदर्श पुस्तकें सब बेकार हैं । "[1]

उदात्त-मानव-मूल्य- सत्य, प्रेम, नैतिकता,न्याय, ईमानदारी आदि हमारी संस्कृति के प्राणतत्व है किन्तु वर्तमान सन्दर्भ में इनका अवमूल्यन होता जा रहा है । उपन्यासकार ने आलोच्य उपन्यास में इन उच्च मानवीय मूल्यों के रक्षार्थ उसके नायक" श्रीधर " के चरित्र को स्थापित किया है । श्रीधर पूरे उपन्यास में एक नैतिक,ईमानदार,निष्ठावान तथा

1-" यह पथ बन्धु था " -- पृष्ठ 307

निश्छल व्यक्ति के रूप में ही नहीं, अपितु सारी व्यवस्था को अपनी ही नैतिक व्यवस्था के अनुसार बनाने या परिवर्तन की सदिच्छा से सजग-चेता के रूप में भी छाया रहता है । उसका पुरुषार्थ तथा उसकी आस्था नि:सन्देह खंडित होती है, किन्तु मानवीय-मूल्यों में फिर भी उसका विश्वास बना रहता है । स विशन उसे परामर्श देता है कि वह घर लौट जाय -- " श्रीधर बाबू मैं अभी भी, आपको सलाह देता हूं कि आप घर लौट जायें । इतनी नैतिकता, इतनी सिधाई से आप कितनी दूर चल पाइएगा ? और क्या लोग आपको चलने देंगे ? "[1]

" नियतिवादिता " एवं " परिस्थितेच्छा " हमारी भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है । उपन्यास के मालिक नायक श्रीधर के मन में " नियतिवादिता " मिलती है । उसका मौन इस नियम की मान्यता को प्रमाणित करता है । घर से भागकर वह वृहद यथार्थ से जूझता है । उसमें अस्वीकार कहीं नहीं दिखाई पड़ता । इसलिए नहीं कि उसमें साहस नहीं है, प्रत्युत इसलिए कि वह दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहता है । इसलिए न चाहते हुए भी और यह समझकर कि इसमें भ्रम ही होगा, वह इन्दु को पहुंचाने को राजी हो गया । <u>यह श्रीधर के स्वभाव की विशिष्टता न होकर, पूरी भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है ।</u>

भारतीय संस्कृति में कहा गया है कि - शील के सर्वस्य भूषणम् " अर्थात् शील या सहनशीलता सभी गुणों का आभूषण है । श्रीधर के चरित्र में हिन्दू - संस्कृति की एक विशिष्टता प्राय: सर्वत्र झलकती है, वह है, "सहनशीलता और सन्तोष " । श्रीधर की शान्ति एवं मौन में ये दोनों तत्व सदा से विद्यमान है । इसीलिए श्रीधर अतिसाधारणता के बावजूद भी शुद्ध भारतीय मनीषी ज्ञात होता है । वह परिवार आदि के कष्ट को मन ही मन सहता है । यहाँ तक कि सब का दु:ख सहता है और विचित्र प्रकार के विश्वासों और संस्कारों के कारण यथार्थ के दबाव के परिणाम स्वरूप चिल्ला उठता है कि " श्रीधर सब व्यर्थ हो गया । "[2] इस प्रकार श्रीधर का चरित्र सही माने में भारतीय हिन्दू

1- " यह पथ बन्धु था " - पृष्ठ 88

2- वही, पृ० 318

चरित्र है, जो सहता अधिक है और सब कुछ के बावजूद हताश नहीं होता है ।

" गीता " में कहा गया है कि यह संसार " दु:

अर्थात् यह संसार दु:ख का घर और नश्वर (अस्थायी) है । इस भारतीय चेतना के सन्दर्भ में श्रीधर शुद्ध भारतीय बुद्धिजीवी की भूमिका के साथ ही साथ यथार्थ को अधिक गहराई से भोगते और समझनेवाला प्रज्ञावान व्यक्ति है, जो यथार्थ की अवमूल्यनोंन्मुखता को मानवीय पीड़ा एवं आकुलता के सन्दर्भ में समझता है । इसीलिए वह इस सांसारिक सत्य को कि" सत्य सदा कुचला जाता है "और संसार दु:ख का आगार है " -- सम्यक् रूपेण अनुभव करता है ।

श्रीधर की पत्नी (सरो " (सरस्वती) एक आदर्शवादी सुसंस्कृता हिन्दू महिला है । वह आदर्श भारतीय महिला की भांति सांस्कृतिक-मूल्यों में अमिट आस्था रखती है । हमारे यहाँ हिन्दू शास्त्र में कहा गया है कि नारीणां पतिरेको गति: " अर्थात् नारियों के लिए पति ही सर्वस्व है । वह इस भारतीय मान्यता में पूर्णत: निष्ठा रखती है । उसने श्रीधर के यह पूछने पर कि इस राज्य के इतिहास के विषय में तुम्हारी राय क्या है, कहा कि मेरा तो स्वत्व, व्यक्तित्व, लोक-परलोक सब उसी दिन आप में लीन हो गया । "1 सरो की यह मान्यता उसकी भारतीय संस्कृति में पूर्ण निष्ठा का व्यंजक है ।

आलोच्य उपन्यास में लेखक सांस्कृतिक-बोध के प्रति इतना निष्ठावान है कि भारतीय संस्कृति के उपादानों को वह बार-बार याद करता हुआ चलता है ।" शुक्रतारा " एवं" सप्तर्षि " - जो कि भारतीय संस्कृति के तत्व हैं, उन्हें अनुरेखित करता है । श्रीधर की पत्नी" सरो " की दिनचर्या का उल्लेख करते हुए लेखक कहता है - " इसमें सरस्वती को केवल यही याद पड़ता कि वह अपने कमरे से जब आयी थी, तब शुक्र डूब रहा होता और जब चौका-बासन,ढकना-मेलना पूरा होता, तब सप्तर्षि उग आए होते । "2

1-" यह पथ बन्धु था - पृष्ठ 27

2- वही, पृ० 38

भारतीय शास्त्रों में पृथ्वी का गुण " क्षमा " माना गया है । उपन्यासकार इस सांस्कृतिक -बोध को उजागर करने के लिए श्रीधर से कहलाता है कि -" सरो, मैं जानता हूँ कि तुम कितनी अच्छी हो । नारी पृथ्वी होती है, क्योंकि वह प्रजनन की पीड़ा को अन्दर से लेकर बहन के भार को बाहर तक आद्यन्त सहती है । सरो, तुम पृथ्वी हो ।"[1] इससे लेखक का सांस्कृतिक-बोध व्यंजित होता है । यह भारतीय सांस्कृतिक बोध का बोधक है ।

श्रीधर तथा उसकी पत्नी सरो दोनों के अधोलिखित कथन उनके सांस्कृतिक बोध के ही परिचायक प्रमाणित होते हैं --

- " सरो । सीता को सब से अधिक पीड़ा रावण ने दी या राम ने ?
- " देखिए , आप जानते हैं कि मैं रामायण के प्रति तर्क नहीं करती । वह मेरी श्रद्धा है ।
- " मैं समझता हूँ सरो । कि राम ने सीता को जो पीड़ा दी या अपमान किया, उसके कारण ही वह पृथ्वी में समा गयीं ।
- " यदि अग्नि- परीक्षा की बात कर रहे हैं, तो यह उनकी आपसी बात थी । पत्नी पर पति का अधिकार होता है । "[2]

उक्त संवाद में " सरो " के कथन भारतीय सांस्कृति-बोध से ही अनुप्राणित है ।

भारतीय संस्कृति " जन-सेवा " एवं " प्राणिणांहिते-रता: " के सिद्धान्त में अमित आस्था रखनेवाली है । इस परिप्रेक्ष्य में आलोच्य उपन्यास में " सरो " की दिन-चर्या ध्यातव्य है । परिवार में पन्द्रह-बीस आदमियों को समय से भोजन देना और सुबह से लेकर शाम तक सारा कार्य सरो का नैत्यिक कार्यक्रम था । फिर तो वह इस " जन-सेवा " भाव से प्रेरित होकर मशीन बन गयी थी, जो प्रातः चार बजे से स्टार्ट होती थी और रात्रि 11 बजे के लगभग बन्द होती थी । इस प्रकार " सरो " " जन-सेवा " अथवा " परिवार-सेवा " को ही जीवन का " महाव्रत " समझती थी । ऐसी कर्मठ एवं आदर्श महिला भारतीय संस्कृति की उपज है ।

1- " यह पथ बन्धु था ", पृष्ठ 75

2- वही, पृ० 75

भारतीय संस्कृति " नारी " को " महाशक्ति " मानती हुई वैदिक-युग से आज तक चली आ रही है ।" दुर्गा-सप्तशती " में कहा भी गया है --" या देवी सर्व भूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै- नमोनमः ।" इस सन्दर्भ में प्रस्तुत उपन्यास में " रतना "को नायक श्रीधर " शिव-शक्ति " कहता है । विशन, मालिनी और रतना की चारित्रिक विशेषताओं का आकलन करता हुआ वह कहता है --" एक वीर था, दूसरी करुणा और तुम शिव शक्ति हो । "1 इस कथन के द्वारा वैदिक वाक्य" यत्र-नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः " की परिपुष्टि होती है ।

भारतीय-संस्कृति " देश-प्रेम " एवं " मातृ भूमि " की महत्ता को स्वर्ग से भी श्रेष्ठतर स्वीकारती है ।" वाल्मीकि रामायण" में श्री रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से इस सन्दर्भ में कहा है --

" अपि स्वर्ण मयी लंका, लक्ष्मण न मे रोचते ।
जननी जन्म भूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी ।। "

इस सांस्कृतिक प्रति श्रुति के परिप्रेक्ष्य में " विशन बाबू " ने श्रीधर से अपना देश-प्रेम व्यंजित करते हुए कहते हैं -- " इसलिए कि मुझमें कहीं आग है कि देश को आजाद करवाया जाये । मैं भी एक आदर्श के कारण राजनीति में आया । दुःख या परिताप इस बात का है श्रीधर ! कि अंग्रेज के शोषण को तो शोषण कहकर उसके विरुद्ध सत्याग्रह करेंगे, लेकिन इन पुस्तकें साहब जैसे लोगों के शोषण को आप त्याग, तपस्या, देश-सेवा आदि कहने के लिए बाध्य है । आज पाँच बरस से घुट रहा हूँ, कोई उत्तर नहीं मिलता ।"[2]

" ब्राह्मण धर्म "," ईश्वर की मूर्ति का दर्शन "," कथा-कीर्तन " " मन्दिर-माहात्म्य " आदि भारतीय सांस्कृतिक-बोध पर आलोच्य उपन्यास में लेखक ने विशन एवं मालिनी के संवाद के माध्यम से प्रकाश डालते हुए लिखा है

" मालिनी -- देखो, तुम मुझसे छोटे हो, आग्रह की आशा मत करना ।
मैं आयी और वह उठी ।

1-" यह पथ बन्धु था ",पृ० 211

2-" यह पथ बन्धु था " - द्वितीय संस्करण, ईशान प्रकाशन,99-ए, लूकरगंज, इलाहाबाद,पृष्ठ 97

शिशन -- सुनिए इसकी तो कोई ज़रुरत नहीं --------

-- वेश्या के यहाँ का नहीं खिलवाऊँगी । बीबी होकर छोटे भाई का ब्राह्मणत्व नहीं लूँगी ।

-- लेकिन तुम्हें कैसे मालूम कि मैं ब्राह्मण हूँ ।

-- नारी से पुरुष की जाति, धरम, पाप, पुण्य कुछ छिप सका है ?

\+ + + +

लछमन - माँ जी । मन्दिर के लिए पालकी तैयार है ।

-- लछमन तुम्हीं चले जाओ, बड़े पुजारी जी से हाथ जोड़, क्षमा माँग लेना और कह देना कि आज न आ सकूँगी ।

विशन तो आप दर्शन कर आइए न ।

मालिनी दर्शन करने तो सबेरे जाती हूँ । इस समय तो कीर्तन करते आना पड़ता है । "

उपर्युक्त कथनों या संवादों के माध्यम से उपन्यासकार ने भारतीय सांस्कृतिक - बोध को अभिव्यक्त किया है ।

जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थाटन, ऋषि-मुनि-सेवा आदि सांस्कृतिक -चेतना के व्यंजक हैं ।" मालिनी " की धार्मिक आस्था को बताता हुआ उसका नौकर" लछमन " विशन बाबू से कहता है --

" बाबू जी । कौन सा जप-तप, धरम-नियम, पूजा-पाठ है, जो माँ जी ने नहीं किया । जैन मुनियों से लेकर गोसाईं जी तक की सेवा की । पजूसन (पर्यूषण, एक जैन-पर्व) नवरात्रि-व्रत,आबू के जैन तीर्थ,काशी ,गया और नाथद्वारा तक कहाँ-कहाँ न जाकर, अपने माथे के इस कलंक को धोने की नहीं चेष्टा की । "[1]

भारतीय संस्कृति की यह प्रमुख विशेषता है कि वह" जन्म-जन्मान्तर" में असीम आस्थावती है । इस सांस्कृतिक बोध को मालिनी और

1-" यह पथ बन्धु था "- द्वितीय संस्करण,1971,पृ० 114

बिशन के माध्यम से उपन्यासकार ने प्रकट किया है --

मालिनी " - विशन रे, लगता है मैं जन्म-जन्मान्तर से वेश्या ही थी । क्या आगे भी वेश्या बनकर ही नारी देह को अपमानित लांछित करती रहूँगी ? "

शास्त्री जी और श्रीधर के संवाद के माध्यम से " उज्जैन-तीर्थ "" कालिदास "," वाणभट्ट "," भोज " आदि के उल्लेख के द्वारा लेखक का सांस्कृतिक -बोध अधोलिखित पंक्तियों में ध्वनित होता है --

श्रीधर -" जी नहीं, उज्जैन का रहनेवाला हूँ ।

शास्त्री जी -" वाह, कालिदास्य उज्जयिनी । कालिदास ,वाणभट्ट, भोज ने तो आपके प्रदेश को अमर कर दिया है । क्या है वह --

" कण्ठहार" का श्लोक ---- अरे, उठ नहीं रहा है ----

- कोई बात नहीं ।

- हाँ क्या नाम है ? ब्राह्मण है न ?

- जी हाँ श्रीधर ठाकुर ।

- क्या आप लोग नाम के पूर्व पंडित नहीं लगाते ? मुझे उदयभानु मिश्र शास्त्री कहते हैं । इधर बलिया का रहनेवाला हूँ । आपने महामहोपाध्याय पंडित रामदीन शर्मा का नाम सुना है ?

- जी हाँ । "

भारतीय संस्कृति की ऐसी मान्यता है कि कर्म निष्ठ वाह्मिक यों कहिए कि " कर्मकाण्डी " ब्राह्मण" स्वयपाकी " होते हैं । वे किसी का छुआ नहीं खाते हैं । इस सांस्कृतिक -बोध को इंगित करते हुए उपन्यासकार शास्त्री जी के बारे में कहता है --

" किसी का छुआ खा नहीं सकते, इसलिए हाथ से ही बनाते हैं । जिन दिनों अन्य क्षेत्रों की शरण लेनी पड़ती है, उन दिनों बड़ा धर्म-संकट उत्पन्न हो जाता है लेकिन" आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति " के शास्त्र के वचन का पालन कर लेते हैं । बाद में प्रायश्चित स्वरूप " पुरश्चरण " कर लेते हैं । नित्य गंगा-स्नान हो जाता है ।

\+ \+ \+ इस प्रकार शास्त्री जी आकण्ठ ब्राह्मण व्यक्ति थे ।"[1]

श्रीनाथ ठाकुर के क्रियाकलाप एवं आचरण उनके सांस्कृतिक-बोध के पूर्ण परिचायक है । उपन्यासकार उनके इस सांस्कृतिक-बोध को प्रदर्शित करते हुए लिखता है --

" पंडित श्रीनाथ ठाकुर ने एक बही खाते में --

\- श्री गणेशाय नमः ।

\- महाप्रभु सदा सहाय ।

\- द्वारकाधीश की जय - लिखकर गुणवेती के ब्याह का श्री गणेश किया ।"

वैवाहिक-कार्यक्रम में सांस्कृतिक-बोध की सुस्पष्ट झांकी प्रस्तुत करते हुए लेखक लिखता है -

" कभी गुनी को ले जाकर बहलाया जा रहा है । गीत हो रहे हैं, फूल-मालायें आ रही हैं । + + + आज ग्रह शान्ति हो रही है, तो कल घट की स्थापना हो रही है । + + + + मंगलाचार के लिए स्त्रियां एकदम तैयार हैं । जैसे ही " अन्तर-पट " हटाया जायगा और पुरोहित -" चौबीस घड़ी सावधना " कहेगा तथा वर-वधू के हाथ मिलाए जायेंगे कि बाजा-गायन सब एकदम गा उठेंगे । खीलों की, चावलों की वर्षा होने लगेगी और गुनी उसकी बेटी दूसरे की हो जाएगी ।"

" विवाह " एक सांस्कृतिक कार्य है । इसमें उपर्युक्त पंक्तियों में भारतीय सांस्कृतिक बोध पूर्णतः ध्वनित ही नहीं अपितु प्रतिबिम्बित भी हुआ है । भारतीय संस्कृति के विविध उपकरणों को उद्घाटित किया गया है ।

" सुशीला " के विवाह-वर्णन में भी भारतीय सांस्कृतिक-बोध की सुन्दर झलक दर्शनीय है --

---

1-" यह पथ बन्धु था " - द्वितीय संस्करण,1971,पृष्ठ 202

" सुशीला पर हल्दी चढ़ी और औरतें गाने लगीं -

बरेली के बाजार में झुमका गिरा री ।

सास मोरी ढूंढे

ननद मोरी ढूंढे

अरे बलमा ढूंढ री ।

बरेली के बाजार में झुमका गिरारी ।।"

\+ + +

समधन को ले गया

बरात का नाई,

हो ,समधन तरी धोड़ी चने के खेत में ।"

और लड़कियों के पेट में हंसते-हंसते बल पड़ जाते ।।

" ॐ " स्वाहा "" स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवा: " हां हवन हो रहा है।"[1]

इस प्रकार" यह पथ बन्धु था " समूचा उपन्यास सांस्कृतिक-बोध ,सांस्कृतिक, समस्या और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति संवेदना आदि की दृष्टि से मानवीय संवेदना तथा महाकरुणा को यथार्थ की कठोर भूमि पर व्याख्यायित करता है ।" यह पथ बन्धु था " सचमुच" सांस्कृतिक - बोध " का महाकाव्य है । महाकाव्य इस अर्थ में कि इस उपन्यास में सांस्कृतिक-तत्वों की आद्यन्त प्रधान है । सांस्कृतिक-बोध की दिशा में उपन्यासकार यथेष्ट सचेष्ट दिखाई देता है । सांस्कृतिक-बोध को भी नरेश मेहता की रचना का " मेरुदण्ड " कहा जा सकता है ।

000000

1-" यह पथ बन्धु था " - द्वितीय संस्करण 71 ई०,पृष्ठ 276

" यह पथ बन्धु था "

" कथासार " (कथानक का सारांश) :

उपन्यास का कथानक अत्यधिक लम्बा है । इसकी कथा के " महावृत्त " में कई " लघुवृत्त " अनुस्यूत है । कथा में कई अवान्तर कथायें या मोड़ हैं । अस्तु, अनेक कथा सूत्रों को एक सूत्र में गूंथकर अध्ययन की सुविधा के लिए संक्षिप्त कर दिया गया है ।

इस उपन्यास का नायक " श्रीधर " मालवा का निवासी है । वह अत्यन्त निश्छल, नैतिक, मानवतावादी एवं ईमानदार व्यक्ति हैं । उसके पिता पण्डित" श्रीनाथ ठाकुर " हैं । वे अतीव पुजारी, भक्त एवं पुरोहित का कर्म करनेवाले" कर्मकाण्डी " ब्राह्मण हैं । पूजा-पाठ, कथा-कीर्तन, स्नान- ध्यान आदि उनकी दैनिक वैस्यिक" दिनचर्या " है । वे" हरि इच्छा " कहकर सदा पारिवारिक कलह सहकर टाल दिया करते हैं । उनकी पत्नी यानी श्रीधर की माता जी भी अतीव सीधी-सादी , सहिष्णु धर्म-परायण महिला हैं । श्रीधर तीन भाई हैं । बड़े भाई का नाम श्रीमोहन " और छोटे भाई का नाम"श्रीवल्लभ " है । बड़े भाई की पत्नी का नाम " सावित्री " है । बड़ा भाई श्रीमोहन सिरश्तेदार के पद पर अच्छी नौकरी करता है । वह और उसकी पत्नी – सावित्री " – दोनों महास्वार्थी एवं चालाक टाइप के व्यक्ति हैं । छोटा भाई श्री वल्लभ पशु डाक्टर है । उसकी पत्नी भी आराम तलब एवं सुखवादी महिला है । इस प्रकार घरेलू काम-काज न तो श्रीधर की भाभी" सावित्री " करती है और न ही उसकी भयाहू (अनुज - वधू) करती है ।

श्रीधर की पत्नी का नाम" सरो " (सरस्वती) है । सारा घर का कामकाज बेचारी अकेले" सरो " ही करती थी । वह भोजन,चौका-बासन,सफाई सारा दिन करती रहती थी । सरो चार बजे सबेरे से लेकर रात्रि के 11 बजे तक मशीन की तरह कार्यरत रहती थी । ऊपर से उसकी जेठानी सावित्री " कठोर बाते भी सुनाती रहती थी । उसकी देवरानी (डाक्टर की बहू भी मौज-मस्ती मारती थी और घर का कोई भी कार्य नहीं करती थी ।

" श्रीधर " (नायक) विद्यालय में जब पढ़ता था और दस-बारह वर्ष का था, तो उसी समय वह मराठा सरदार " बाला साहब " की कोठी में प्राय: जाता था । बाला साहब की एकलौती पुत्री " इन्दु " से उसका प्रेम हो गया था । इन्दु उससे स्नेह रखती थी । वह आयु में श्रीधर से 10 वर्ष बड़ी थी । इन्दु बड़ी ही " एडवांस " थी और सज्जन भी थी । वह श्रीधर को " बुद्धू " कहकर खूब हंसती थी, क्योंकि श्रीधर एक तो कम आयु का था और दूसरे बड़ा सीधा-सादा था । इन्दु, श्रीधर को अनेक बातें सिखाया करती थी और बहुत सी अच्छी पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं आदि भी देती थी । इन्दु का विवाह हो जाता है और दुर्भाग्य से वह विधवा भी हो जाती है ।

श्रीधर स्थानीय एक विद्यालय में अध्यापक हो जाता है । यह मिडिल स्कूल (वर्तमान जूनियर हाई स्कूल) था । वह हिन्दी ,इतिहास और गणित पढ़ाया करता था । उसने एक " शासन का इतिहास " नामक ग्रंथ लिखा । सरकारी नियमानुसार उसे सरकार की ओर से सम्मानित किया जाना चाहिए था किन्तु यह राजाज्ञा हुई कि " लेखक ने इसमें " सरकार " या " शासन " के लिए यथोचित सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं किया है । अतएव पुन: इस इतिहास में वह संशोधन करे । इसके लेखक " श्रीधर " ने कहा कि इतिहास इसी प्रकार लिखा जाता है, उसमें आदर-सूचक विशेषणों को लगाना सरकार की चाटुकारी करना होगा और मैं ऐसा कदापि नहीं कर सकता हूं । उसके मित्रों, माता-पिता, भाई तथा सरकारी पदाधिकारियों आदि सब ने उसे परामर्श दिया कि वह सरकारी आदेश का अवश्य ही पालन करे किन्तु मूल्यवादी और ईमानदार लेखक श्रीधर ने इस गलत बात को किसी भी शर्त पर स्वीकार नहीं किया । दो-तीन बार नोटिस देने के बाद उसे " नौकरी " से हटा दिया गया ।

श्रीधर आत्म-सम्मान पर अडिग रहा । अध्यापकत्व से पदच्युत होने पर उसे गहरा आन्तरिक आघात लगा । एक दिन उद्विग्न एवं उदास श्रीधर रात्रि में पत्नी तथा बच्चों के सोते रहने पर बिना घर के लोगों के बताए हुए, घर त्यागकर पैदल " उज्जैन " तक चला गया । उसके मित्र

नारायण बाबू तथा घर के लोग यहाँ पर जान जायेंगे -- इस भय के कारण वह उज्जैन छोड़कर" इन्दौर " शीघ्र ही चला जाता है । यहाँ तक की कथा " पूर्व पथ " में है ।

इन्दौर में श्रीधर की भेंट" विशन " नामक एक तेजस्वी, फक्कड़, आतंकवादी से होती है । वह बाहर से अतीव फक्कड़ एवं मस्त मौला व्यक्ति है या लगता है, किन्तु उसके भीतर एक चट्टान की दृढ़ता, निश्छलता , मिलनसारिता और सहजता है । उससे अपने जीवन में अनेक तूफानों को देखा तथा झेला है । वह सुराजी बना हुआ है -- यह उसकी परिस्थिति जन्य विवशता है किन्तु वस्तुत: वह" महामानव " है । वह तथाकथित देश भक्त एवं कांग्रेसी नेता" पुस्तके साहब " की चन्दा खानेवाली प्रवृत्ति एवं शोषण से भीतर ही भीतर पीड़ित है ।

इन्दौर में ही श्रीधर का परिचय" पुस्तकें साहब " जैसे मुखौटेवाले वकील और कांग्रेसी नेता से होता है । यहाँ पर श्रीधर को कहीं भी कोई भी नौकरी नहीं मिलती है । फलत: विशन के कारण और साथ में रहने से" कांग्रेस दफतर " का कार्य तथा" मजदूर पाठशाला " की पढ़ाई अवैतनिक रूप से करता है ।

इन्दौर में श्रीधर की भेंट " मालिनी " से होती है, जिसे विशन वेश्या होते हुए भी" दीदी " कहता है । श्रीधर उसे माँ तुल्य समझ कर प्रणाम करता है । मालिनी को श्रीधर" करुणा" कहता है, क्योंकि वह बड़ी दयालु थी ।

मालिनी के अतिरिक्त श्रीधर की भेंट पुस्तकें साहब की कन्या" कमल " से भी होता है । विशन से कमल का विवाह हो जाता है । मालवा हाउस के षड्यंत्र एवं कमल तथा विशन की शादी को लेकर जारी किए गए " वारेंट " से श्रीधर फिर काशी आया ।

काशी में श्रीधर का" सुधांशुराय " नामक एक क्रान्तिकारी से परिचय हुआ । अन्तत: इनसे कोई लाभ नहीं हुआ । यहाँ

पं० शिवनाथ त्रिपाठी के पास गए । त्रिपाठी जी की अन्तरंग मण्डली ने "हिन्दी - हितकारिणी" पत्रिका निकाली जिसमें श्रीधर को सहायक बनवा दिया गया । यहाँ श्रीधर प्रूफ रीडरी और अनुवाद करके जीविकोपार्जन करते थे । यहाँ पर "रतना" नामक एक लड़की से श्रीधर का "प्रेम" हो गया । रत्ना के पिता कलकत्ता हाईकोर्ट में जज थे । उसका बचपन बड़े सुख से बीता था । जज पिता की एकमात्र सन्तान रत्ना ही थी । वह पाँच वर्ष की थी, तभी उसके माता-पिता तथा शेष छः सन्तानों का देहान्त हो गया था । होश सँभालने पर रत्ना ने विधवा "माशी माँ" को ही जाना, जिसे उसके पिता ने उसके लालन-पालन के लिए रख छोड़ा था । मकान निजी है । परन्तु एकाकीपन उसे कचोटता रहता था । रत्ना इन्दौर में "मिशनरी स्कूल" की अध्यापिका हो गयी थी । उसका व्यवहार सब को पसन्द था । संबंधी के नाम पर एक "बुआ" थी, उसी के कारण रत्ना क्रान्तिकारियों के संपर्क में आयी । उसने पुलिस के भी चकमा पढ़ा दिया । मालिनी के घर पर मिलने पर "रतना" ने श्रीधर से कहा "मैं ईसाई नहीं हूँ, बंगाली हूँ और बिशन बाबू से विवाह नहीं करना चाहती । श्रीधर पर रत्ना के व्यक्तित्व का पहला प्रभाव यह पड़ा कि "यह नारी बहुत तेज प्रवाह का जल है ।" रत्ना निश्छल तथा खुले हृदय की स्त्री थी । वह दृढ़ संकल्पशीला थी । प्राणों को होम करने को तैयार थी ।

"रतना" श्रीधर से बनारस में मिली । सारनाथ में रत्ना और श्रीधर एक दूसरे के अधिक निकट आए । रत्ना श्रीधर से नारी-सुलभ प्रेम करने लगती है लेकिन लज्जावश खुलकर कुछ नहीं कह पाती है । श्रीधर भी उसे चाहता है । श्रीधर के मन की बात समझते हुए रतना कहती है --" एक तो यह कि मैं किसी का सौभाग्य नहीं छीनना चाहूँगी, दूसरे अपनी पार्टी का काम ।" ऐसा उसने इस लिए कहा - क्योंकि श्रीधर विवाहित था । जिस समय रत्ना को प्राणदण्ड सुनाया गया , वह निश्चिन्त बैठी हुई थी । श्रीधर बाबू एक क्षण के लिए काँप गए । लेकिन जब श्रीधर बाबू को सजा सुनाई गयी, तो वह उदास हो गयी । बनारस जेल से गोंडा जाते समय उसने श्रीधर के कान में अत्यन्त धीमे से कहा --" तुमि आमार शामी " अर्थात् तुम हमारे स्वामी हो । रत्ना के

कहने पर राम नगर की ओर बम लेकर जाते हुए श्रीधर पकड़े गए तथा 10 वर्षों का सश्रम कारावास हुआ । जेल से छूटने के बाद " हिन्दी-हितकारिणी " जिसमें पहले कार्य करते थे, उसे बन्द करके " शंखनाद " पत्रिका की योजना में लीन हुए । जब " भारतमाता-प्रेस " के स्वामी रामखेलावन बाबू के सहयोग से " शंखनाद " निकालने लगे तो सकल दीप नारायण सिंह उनकी निष्पक्ष आलोचना और उत्कृष्ट विचारों से भयभीत होकर उनके पीछे पड़े । यहाँ तक कि मरवाने तक को तत्पर हो गए थे । 60 रुपये महीने पर काम करते हुए उन्हें इस तरह के कार्य से वितृष्णा हो गयी । अन्ततः टूटे हुए श्रीधर " घर " लौटते हैं ।

घर आने पर श्रीधर को पता चला कि परिवार के नाम पर उसकी यक्ष्मा पीड़ित (टी०बी० पीड़ित) पत्नी और अपाहिज पुत्री गुनी बची है । भाई लोग अलग होकर सम्पन्न तथा सुखी हैं । छोटी पुत्री सुशीला अपने घर है । लड़का देवव्रत ननिहाल में है और माता-पिता मर चुके हैं । घर आने के कुछ ही दिन बाद पत्नी " सरो " मर जाती है । अपाहिज गुनी भी ननिहाल चली जाती है और अकेले तथा विवश श्रीधर घर पर साधारण रूप में मानवता का इतिहास लिखने लगते हैं ।

नोट -- इस मूल कथा यानी श्रीधर की जीवन-यात्रा के साथ कुछ अवान्तर कथायें हैं, जो श्रीधर को प्रभावित और निर्धारित करती हैं । इन कथाओं का संबंध मूल कथा से प्रभावकारी तत्व के रूप में सम्बद्ध हैं ।

::::::::

" उत्तर - कथा "

नरेश मेहता का उपन्यास" उत्तर-कथा " तो मालवा का " भागवत जी " (श्रीमद्भागवत्पुराण) है । कोई भी पुराण एक श्रद्धालु व्यक्ति के जीवन में धर्म और नैतिकता जैसा कुछ जोड़ते अवश्य हैं । " पुराण " निश्चित रूप से आस्था के पर्याय है । तो क्या" उत्तर-कथा " कोई धार्मिक कृति है ? नहीं ," उत्तर-कथा " न तो कोई पुराण है और न ही कोई धार्मिक कृति । परन्तु यह औपन्यासिक कृति मालवा के लोगों को उस मालवा और मालवा की संपूर्ण सामाजिकता से अवश्यमेव तदाकार करवाती है, जो कभी था और अब लगभग नहीं है । यह उपन्यास " न होने के बीच " होने का प्रामाणिक दस्तावेज है ।

" यह पथ बन्धु था "," धूमकेतु एक श्रुति "," नदी यशस्वी है " और" उत्तर-कथा " नरेश जी के सृजन हैं और" दो एकान्त "," प्रथम फाल्गुन ", और" डूबते मस्तूल " --- नरेश जी का लेखन है । लिखना तो अभ्यास से भी संभव हो सकता है, पर सिरजना केवल अभ्यास की बात नहीं है । स्वयं नरेश जी के ही शब्दों में कहें तो" यह संपूर्ण अवगाहन है" । कथा के क्षेत्र में यह अवगाहन तभी संभव हो सका है, जब वह मालवा से तदाकार होते हैं । मालवा को वे लिखते नहीं हैं, मालवा उनसे लिखवाता है ।

नरेश जी के प्रस्तुत उपन्यास में हम जिस" मालवा " से साक्षात्कार करते हैं, वह आज का मालवा नहीं है । आधुनिकता के दबाव के कारण, आज के जीवन की आपाधापी और बिखराव में अब मालवा, वह" मालवा" नहीं रह गया है । आधुनिक होने या कहलाने की उत्कट आकांक्षा में हमने अपनी निजता और अपनी अस्मिता को ही खो दिया है ।

श्री प्रमोद त्रिवेदी के शब्दों में --" मालवा कभी वास्तव में " डग-डग रोटी, पग-पग नीर " का पर्याय हुआ करता था । लेकिन आज यह बात केवल आखर लिखी रह गयी है । नरेश जी का मन आज भी उसी शान्त,

सौम्य, सदाशयी, सम्पन्न और वैष्णवी आस्तिकतावाले मालवा में बसा हुआ है। वैष्णवी आस्तिकता का किसी विशिष्ट सम्प्रदाय और उनके तिलक-छापे से न जोड़कर, एक ऐसी जीवन-दृष्टि और जीवन-पद्धति से है जिनकी अपनी आस्थाएं हैं। ये आस्थायें एक दूसरी की काट नहीं, बल्कि एक दूसरे की पूरक हैं। इसी से एक संस्कृति का निर्माण होता है। संस्कृति क्या है ? संस्कृति वास्तव में किसी देश की दीर्घ परम्पराओं, शाश्वत विश्वासों, निरन्तर जिज्ञासाओं, जीवन-शैली, रीति-नीति, रहन-सहन, आचार-विचार, रूढ़ियों प्रति रूढ़ियों, मान्यताओं - वर्जनाओं दर्शन चिन्तन आदि का एक ऐसा समुच्चय है, जो जीवन के हर क्षेत्र में प्रतिभासित ही नहीं, प्रतिफलित भी होता है। यही पहचान एक देश को दूसरे देश से पृथक करती है।"[1]

धर्म जड़ता नहीं, मनुष्य की ऊर्ध्वगामी चेतना है। यही "मनुष्य" को "मनुष्य" बनानेवाला तत्व भी है। यही धर्म मानवीय रिश्तों के ताने-बाने में अनुस्यूत होकर सामूहिक शक्ति बन जाता है। हिन्दी में कम से कम नरेश जी के उपन्यास "भारतीय दृष्टि" का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जैसे कोई कुशल गायक यों तो कोई भी राग गा सकता है, पर जब वह अपना प्रिय राग गाता है, तो वह उस राग को ही नहीं गाता, स्वयं को ही गाता है। नरेश मेहता को भी "राग-मालवा" सिद्ध हो गया है। वे इस राग के एक-एक स्वर, श्रुतियों तथा मूर्च्छनाओं में डूबे हुए हैं। इस राग की नित-नवीन भाव-छवियां केवल नरेश जी के माध्यम से व्यक्त होती जा रही है। "उत्तर कथा" नरेश जी के इस "मालव-राग" की चरम निष्पत्ति है।

सांस्कृतिक - बोध :

नरेश मेहता को अपनी "शैशव-भूमि" मालवा में असीम अनुराग है। जब वे आलोच्य उपन्यास की भूमि पर खड़े होते हैं, तब केवल "मालवा" मालवा की काली मिट्टी, खेत-खलिहान, वहां के छोटे-छोटे नदी-नाले, कच्चे घर, तीज-त्यौहार, यहां के लोग और उनकी जीवन-पद्धति उन्हें अपनी ओर बलात् आकर्षित कर लेते हैं। यह लेखक का "सांस्कृतिक-बोध" ही तो है।

1- नरेश मेहता : एक एकान्त शिखर" - प्रमोद त्रिवेदी, पृष्ठ 67

हमारे भारतीय चिन्तन में " मृत्यु " को देहान्तरण माना गया है । यथा-

" वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,

नवानिगृह्णाति नरोऽपराणि ।

अर्थात् हमें पुराने वस्त्र छोड़कर नए वस्त्र धारण करने में कोई दु:ख नहीं होता, इसी तरह आत्मा भी देह का वस्त्र बदलती है । जहाँ मृत्यु होती है, वहीं पर, उस बिन्दु पर पुनर्जन्म हो जाता है । नरेश मेहता के उपन्यास" उत्तर-कथा " का आरम्भ भी ऐसा ही है । इसकी केन्द्रीय पात्र" दुर्गा " की जीवन-यात्रा भी मृत्यु के घोर हाहाकार के बीच से आरंभ होती है । मृत्यु के रुदन-क्रन्दन के बीच मांगलिक यात्रा का श्रीगणेश विशुद्ध भारतीय दृष्टि से ही नहीं, बल्कि भारतीय आवृत्त कथा-शिल्प का सफल प्रयोग भी है ।" उत्तर-कथा" उपन्यास में" वामन गणेश आङनापुरे " की कथा इस उपन्यास का वृत्त में निर्मित एक स्वतन्त्र वृत्त है । स्वतन्त्र और इस उपन्यास के महावृत्त में का अंश भी ।

मालवा के प्रति अति आसक्ति होते हुए भी उन्होंने (लेखक ने) आज के मालवा को उपन्यास का विषय नहीं बनाया है, क्योंकि आज के मालवा में उनकी वह परिचित गन्ध नहीं है । विगत मालवा को उन्होंने निकट से देखा और समझा है । उस युग के मालवा में उनकी दुर्गा, पण्डित, महादेव, शुक्ल और त्र्यम्बक शुक्ल जैसे भरे-पुरे पात्र अब इस युग में असंभव है ।" शाजापुर " से जो उनकी जन्म-स्थली था - बचपन में ही छूट गया । फिर वह धरमपुरी नरसिंह गढ़, उज्जैन, बनारस, लखनऊ, दिल्ली आदि स्थानों में भटकते रहे । अन्तत:" इलाहाबाद " लौटने पर ही उन्हें ठहराव मिला । जहाँ-जहाँ गए उनका वह मालवा उनके साथ रहा । जन्म-भूमि एवं शैशव- भूमि के प्रति यह मानसिक लगाव लेखक का" सांस्कृतिक - बोध " ही है ।

मालवा की" द्विज-संस्कृति" में नारी की करुणा और भाषा का आभिजात्य दोनों का व्यापक महत्व है । चूंकि नरेश मेहता का 7 वर्ष से 21 वर्ष तक का जीवन मालवा में ही बीता । इसलिए भावात्मक

यथार्थ की मानसिकता एवं भाषिक आभिजात्य की संस्कारिकता की दृष्टि से मालवा का विशेष महत्व है । सौन्दर्य-बोध का जो रूप नरेश जी में है, उसका कारण भी मालवा ही है । प्रकृति का उन्मुक्त वातावरण लेखक के मसृणमानस पटल पर अंकित सा हो गया । डा० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दों में - " यह सही है कि मालवा ने उन्हें मेधवृत्ति " का व्यक्तित्व प्रदान किया, तो अन्ततोगत्वा प्रयाग ने कूटत्व या कूट-वृत्ति । "

नरेश जी के लिए अपनी परम्परा व अप्रासंगिक है, न व्यतीत हुआ सारा का सारा अयथार्थ है । इसीलिए उनके लिए वह बीता हुआ मालवा अथवा उपनिषदीय आरण्यकता उनके लिए वास्तविकताएं है । वे जब-जब यथार्थ से तदाकार होते हैं, अपनी निजी और जातीय स्मृतियों के साथ ही उससे सम्पृक्त होते हैं । यह लेखक के सांस्कृतिक-बोध " की ही परिचायक है ।

लेखक को अपने" प्राचीन मालवा" की सांस्कृतिक छटा अत्यधिक प्यारी थी किन्तु प्रकृति की कठोरता एवं निर्ममता ने उस पर कुठाराघात कर दिया । वह विक्षुब्ध होकर अपना" सांस्कृतिक-बोध " अभिव्यक्त करता है - " कल तक का मालवा, कालिदास, विक्रम और भोज तथा बाणभट्ट का वंशज न होकर, निरक्षर ब्राह्मणों, टुटपूंजिए महाजनों, दकियानूसी तथा विलासी ठाकुरों तथा यायावर गूजर-बंजारों एवं बनवासी भील-भीलालों का ही आलम्ब अधिक था । न यहां सरस्वती ही शेष रह गयी थी और न ही लक्ष्मी । इस भूमि की दुर्गा तो मध्ययुग में ही तिरोहित हो चुकी थी । मालव, अज्ञानता एवं अकाल का प्रतीक बन चुका था । अवन्तिका क्षेत्र की राजधानी उज्जयिनी, कभी उर्जायिनी रही हो, पर काल ने उसे" उज्जैन " कर दिया । + + + + ज्योतिष को वहन करनेवाला" महाकाल" संज्ञा का विशाल मन्दिर भी मालवीजन एवं इतिहास की भांति ही — ध्वस्त, खण्डित एवं संस्कृतिहीन हो गया । "

जब" दुर्गा " और त्र्यम्बक " विवाहोपरान्त" उज्जैन " पहुंचते हैं, तब लेखक उज्जैन की वैवाहिक संस्कृति का चित्रण करता हुआ लिखता है —

1- उत्तर कथा " - पृष्ठ 27 (परिणय प्रकरण)

" लकड़ी की चौखट में सिन्दूर-रंजित गणपति की मूर्ति तथा" श्री गणेशायनमः "
लिखे द्वार पर केवल आम के पत्तों की बन्दनवार थी, जिसके नीचे रास्ता रोककर
जल भरी कलसी सिर पर लिए एक बहन खड़ी थी । बड़े से फाटक में अवश्य ही
कुछ स्त्रियाँ० सजी बनी सी गीत गाती खड़ी थी । गीत गाती वे स्त्रियाँ
मांगलिक से अधिक कारुणीक लग रही थी । लग रहा था कि सभी को जल्दी
थी, अतः बधू को जल्दी से पालकी से उतारा । बहन ने भी अपने नेग के लिए
आग्रह नहीं किया, अन्यथा प्रायः नथ या कंगन पर बात जाती । वर-वधू के
पल्लू ठीक से पुनः बाँध दिए गए तथा वधू को लेकर वर अपने कुटुम्बियों के सामने
खड़ा हो गया । जब कंकण छोड़े गए, तब दुर्गा ने आचार्यत्व का अन्तिम रूप से
परित्याग कर शुक्लत्व ग्रहण कर लिया ।"[1]

यहाँ पर वैवाहिक -सांस्कृतिक चित्रण के अतिरिक्त लेखक
ने इस सांस्कृतिक सत्य को भी परिभाषित किया है कि कन्या" वधू " बनने
पर अपने पितृ-गोत्र को त्याग कर, पति के गोत्रादि को अंगीकार कर लेती है ।
दुर्गा" आचार्य " उपाधि वाले पितृ-कुल के" आचार्यत्व " को छोड़कर पति
त्र्यम्बक शुक्ल के गोत्र की" शुक्ला " हो गयी ।

दुर्गा का एकमात्र जीवित भाई" शिवशंकर आचार्य
जब अपने पुराने जीर्ण मन्दिर की मरम्मत करता है, उस समय का लेखक का
सांस्कृतिक-बोध द्रष्टव्य है -

" मन्दिर की भी कुछ मरम्मत कर डाली गयी । केवड़ा
स्वामी अब धीरे-धीरे गाँववालों के लिए भी रमणीक स्थान बन गया । शिवशंकर
के उद्योग से लिंग-स्थापन हुआ । अब प्रतिदिन यहाँ शाम को सार्वजनिक पूजा-
आरती होने लगी । लोग अपने फुर्सत के समय घाट की मरम्मत कर दिया करते ।
जिस किसी की गोठ और बैल खाली होते वही बावड़ी के पानी की सफाई में
लग जाता ।"[2]

1-"उत्तर कथा " - वधुत्व प्रकरण, पृष्ठ 66

2- उत्तर कथा " - प्रशाखा प्रकरण , पृष्ठ 123

उपन्यासकार वर्षाकालीन मालवी संस्कृति को अनुरेखित करते हुए लिखता है -- " चौमासे में धाराधर बरसते मेघ, लावा, भुलसी मालवी श्यामामाटी की पठारीयता को अनरु के सप्ताहों तक अभिषिक्त करते होते हैं । मेघ जलों को पीकर श्यामा ऐसी खिल उठती है, जैसे कृष्णा सूर्य मुखी हो । प्रत्येक गांव अपने- अपने नाले जो कि ग्राम-देवता की परिक्रमा कर अल-अल करते जल भरे मगन हो जाते हैं कि उतरने का नाम ही नहीं लेते । फलत: लोगों के रास्ते कई दिनों तक रूके रहते । गाड़ियों, पालकियों, घोड़ों, मुनियों- साधुओं की यात्रा में थमी रह जाती है । इतने पर भी मालवी किशोर कण्ठ दुहराते ही होते -

-- " पानी बाबा आओरे
 ककड़ी भुट्टा लाओ रे । "

--" मेघ राजा पानी दे,
 इन्दर राजा पानी दे ।। "

इस प्रकार लेखक ने आलोच्य उपन्यास में " मालवी-संस्कृति " का अतीत मनोमोहक चित्रण किया है ।

उपन्यासकार ने मालवा की " सामन्ती संस्कृति " का उल्लेख " कामदार साहब " के सन्दर्भ में करते हुए अपने मत को अभिव्यक्त किया है - " कामदार साहब शहर बाहर की कोठी में रहते थे । गौरवर्ण लम्बे कोट के कपड़े, इटालियन गोल टोपी और हाथों में चांदी की मूठवाली छड़ी रखते तथा बग्घी पर सैल चलते थे । + + + शायद कामदार साहब बहुत अधिक नशे में थे, इसलिए पलंग तक पहुंचे अवश्य, पर फिर उन्हें होश नहीं रहा । पलंग पर लस्त पड़े पति को देखकर गायत्री आसन्न बनी बैठी रही । ———— यदि कमला (दासी) थी, तो फिर गायत्री को विवाह कर क्यों लाये ? क्या पति का अपनी दासियों के साथ यही सम्बन्ध है ? यह शराब रखैलों के साथ यह विलास ——— इन सब का क्या अर्थ है ? ---- ब्राह्मण होकर शराब पीते हैं ? पर स्त्री-गमन ——— हे भगवान । और वह अन्तर में चीख उठी ।"[1]

1-" उत्तर कथा " प्रशाला-प्रकरण, पृष्ठ 344, 345

संक्षेपत: नरेश जी का प्रस्तुत उपन्यास " उत्तर कथा " (दो भाग) उनके सांस्कृतिक - बोध का पूर्ण व्यंजक है । उनकी एक ही औपन्यासिक कृति -" उत्तर कथा " सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इतनी अधिक महत्वपूर्ण रचना है, जो उन्हें न केवल हिन्दी अपितु समस्त भारतीय भाषाओं में शीर्षस्थ सर्जक सिद्ध करने में पूर्णत: समर्थ है । सचमुच " उत्तर कथा " मालवा की " भागवत जी " है ।

ततततततततततततत

" प्रथम फाल्गुन "

" प्रथम फाल्गुन " के सांस्कृतिक-बोध को संकेतित विश्लेषित करने के पूर्व इसका " संक्षिप्त कथासार " दे देना समीचीन प्रतीत हो रहा है ।

" कथा-सार " : " प्रथम फाल्गुन " में लखनऊ के ज़मीन्दार " श्री-परिवार " के सर सौरीन्द्र नाथ (उपनाम नाथ बाबू) तथा उनके परिवार की कथा-वर्णित है । नाथ बाबू " की प्रथम पत्नी " श्रीमती नाथ " की " गोपा " एकमात्र संतान है । संयोगात् श्रीमती नाथ के विवाहोपरान्त पांच छः वर्षों तक कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई । अतएव नाथ बाबू को दूसरी शादी करनी पड़ी । दूसरी पत्नी " लेडीनाथ " से एक पुत्री " शोभा " तथा एक पुत्र " शिशिर " उत्पन्न हुआ । इसी बीच पहली पत्नी श्रीमती नाथ के एक पुत्री " गोपा " पैदा हुई । गोपा, शोभा से बाद में हुई । अत: शोभा, गोपा से बड़ी है । शोभा, विवाह के उपरान्त " विधवा " हो गई ।

दूसरा विवाह करने के बाद " नाथ बाबू " ने गोमती नदी के पार " रिवर-लेन " में एक नया बंगला आधुनिक ढंग का बनवाकर वहीं दूसरी पत्नी लेडीनाथ, पुत्री शोभा तथा पुत्र शिशिर के साथ रहने लगे । पहली पत्नी " श्रीमती नाथ " अपनी पुत्री " गोपा " के साथ पहली (पुरानी) कोठी " वृन्दाधाम " में रहती थी । नए बंगले का नाम " नव-वृन्दा " रखा गया है । नाथ बाबू " वृन्दाधाम " में पहली पत्नी श्रीमती नाथ और गोपा के पास दिन में एकाध बार ही आया करते थे ।" गोपा " को यह पितृ-पार्थक्य बहुत ही खटकता था । तथापि नाथ बाबू पुत्री " गोपा " को बहुत मानते हैं ।" गोपा " अतीव गौर वर्ण एवं आकर्षक मुख-मुद्रा की पच्चीस वर्षीया बालिका थी । वह कुशाग्र बुद्धि थी । उसने " लखनऊ विश्वविद्यालय " से एम०एस०सी० " टाप " करके स्वर्ण पदक प्राप्त कर लिया है ।

गोपा के " जन्म-दिनोत्सव " पर सुन्दर आयोजन किया गया । अधिकांश लोग आमंत्रित किए गए और सभी आए भी । इन्हीं आमंत्रित अभ्यागतों

में " महिम " भी आमंत्रित एक नवयुवक था । वह लखनऊ के " आर्ट स्कूल "
में " वाइस-प्रिंसिपल " होकर अभी-अभी नया आया है । इस प्रथम परिचय के
उपरान्त " महिम " गोपा के घर तथा " गोपा " महिम के घर प्रायः आने-जाने
लगे । परस्पर आवागमन से दोनों में आन्तरिक प्रणय दिनोदिन बढ़ता चला गया ।
उपन्यासकार ने इस " रोमांस " को उपन्यास में काफी दूर तक , विभिन्न ढंग
से उभारा है । प्रणय में हास्य-मान आदि के विविध आयाम नियोजित एवं
प्रदर्शित किए गए हैं । दोनों का प्रेम-सन्दर्भ ही उपन्यास के तीन चौथाई अर्थात्
$\frac{3}{4}$ भाग में मार्मिक कलात्मकता के साथ फैला हुआ है ।

अन्त में, महिम बाबू को जब यह रहस्य ज्ञात हो जाता है कि
" गोपा " जारज पुत्री है, तो शनैः शनैः दोनों का प्रेम भीतर ही भीतर निर्वापित
होता चला जाता है । अन्ततोगत्वा " गोपा " और " महिम " का स्नेह-सूत्र
टूट जाता है । संक्षेपतः प्रस्तुत उपन्यास इसी असफल प्रेम की कथा है । इस
उपन्यास का नाम " प्रथम फाल्गुन " शीर्षक संभवतः इसलिए लेखक ने रखा कि
इसमें " प्रेम " की प्रथम किरण तो फूटी ,किन्तु प्रेम अपनी पूर्णता को नहीं प्राप्त
कर सका । महिम एवं गोपा संपूर्ण फाल्गुन की आनन्द क्रीड़ा नहीं मना सके,
क्योंकि प्रेम असफल हो गया । बीच में ही " स्नेह-सूत्र " टूट गया । जीवन
में " वैवाहिक आनन्द " का मंगलाचरण नहीं हो सका । प्रेम की भूमिका तो
लिखी गई किन्तु संपूर्ण ग्रंथ अलिखित ही रह गया ।

<u>सांस्कृतिक - बोध :</u> " प्रथम फाल्गुन " में सांस्कृतिक बोध की दृष्टि में
उपन्यासकार ने भारतीय संस्कृति पर पड़े पाश्चात्य- संस्कृति के अपरिहार्य प्रभाव
से गहराई से संकेतिक किया है । साथ ही आभिजात्य- संस्कृति एवं नूतन भारतीय
संस्कृति के विविध आयामों को भी प्रसंगानुकूल उद्घाटित किया है । सांस्कृतिक
अवधारणा से अनुप्रेरित होकर उपन्यासकार ने ग्रन्थारम्भ में ही अनुरेखित करते
हुए इंगित किया है --" आरम्भ ने के पूर्व यह कह देना अनिवार्य है कि लखनऊ
न पूर्व है, न पछाँह, लखनऊ , लखनऊ है । धरती यहाँ की पूर्व की है , अभी
न ताड़, तालाहि, यहाँ के उपकान्तारों में, कोठियों में, दिखाई पड़ते हैं किन्तु

यहाँ की संस्कृति, तथाकथित " तहज़ीब " सुदूर दिल्ली की उच्छिष्ट है । + + +
कुछ घरों में जो अपने को " कुलीन " मानते हैं —— यह " तहज़ीब " पारस्परिक
सम्बोधनों में अभी भी शेष है । तो हमारा " श्री परिवार " इन्हीं कुलीनों
में से एक है । लेकिन ये कुलीन अब " तहज़ीब " से अधिक " कल्चर " से प्रभावित
है । सदियों के बढ़ने के साथ मानवीय वर्ण संकरता भी बढ़ती जाती है । संभवतः
सब से निष्कृति संभव है, पर वर्ण- संकरता से नहीं ।"[1]

इस प्रकार उपन्यासकार ने स्पष्ट किया है कि वर्तमान
परिप्रेक्ष्य में भारतीय सांस्कृतिक -बोध पर पाश्चात्य संस्कृति " हावी " होती
जा रही है ।

रचनाकार ने " प्रथम फाल्गुन " में भारतीय अभिजात्य-
संस्कृति को विश्लेषित करते हुए उच्च परिवारों की स्वार्थबद्ध चाटुकारिता
" जी हुजूरी " आदि संकीर्णताओं को उजागर करते हुए दिखाया है कि ये
तथाकथित उच्च वंशी व्यक्ति वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश भक्ति
को तिलांजलि दे देते हैं —

" गोमती तट का वृन्दाधाम " श्री परिवार " की पैतृक
कोठी है । इस कुल के आरंभिक दिनों का एक आवास आज भी बाकरगंज में
है, पर वैसे " श्री कुल " सभी व्यावहारिक अर्थों में अब विभिन्न श्री परिवारों
में बंट गया है । हम जिस श्री परिवार की कथा कह रहे हैं, उसके प्रमुख " सर
सौरीन्द्र नाथ " श्री उस परिवार के हैं, जिन्होंने गदर के जमाने में गौरांग-
प्रमुखों की सेवा में उतनी ही तन्मयता से की थी, जितनी की उनके पूर्वजों ने
कभी मुग़ल तथा अवध के नवाबों की की थी । अभी कल की बात है, जब
इस श्री परिवार के " सर " एवं " राज राजा " चीफ जस्टिस अथवा बड़े लाट की
कौंसिल तक में थे । सर सौरीन्द्र नाथ अवकाश प्राप्त जज हैं । + + +
कोई ऐसी सार्वजनिक संस्था न होगी, जिसके वे " सदर " " चेयर मैन " अथवा
" सदस्य " न हों ।"[2]

1- " प्रथम फाल्गुन " ,पृष्ठ 10, संस्करण 1985, एकेडेमी प्रेस, वाराणसी,
2- वही, पृ० 10-11

भारतीय संस्कृति आस्तिक है । वह " जन्म-जन्मान्तर " अथवा " पूर्वजन्म- पुनर्जन्म " आदि में पूर्ण आस्था रखती है । वैष्णव भक्त रचनाकार श्री नरेश मेहता का मानस इस भारतीय -दर्शन में आस्थावान है । अस्तु आलोच्य उपन्यास में इस सांस्कृतिक -बोध को इंगित करते हुए वे " गोपा " की मनः स्थिति का अंकन करते हुए लिखते हैं —" गोपा, फूल की भाँति चौंकी और तितली की भाँति उठी । + + + अपने को समेटे वेस उस क्षण में, स्थिति में, हमें जन्म-जन्मान्तरों की सूत्रता का बोध चमक जाता है, जैसे कि ईशान कोण की बिजली का एकाकी दर्द । आँधार-आलोक की उस अमल अलभ्रालियां में गोपा अपने जन्म-जन्मान्तर के सूत्र थामे समय का एक भाग बन गयी थी । ऐसा ही क्षण हमें बन्धु, मित्र एवं सत्य लगता है ।"[1]

भारतीय संस्कृति " शुभावसरों " एवं " मांगलिक बेला " में पाठ-पूजन, कीर्तन, भजन, आशीर्वचन आदि में निष्ठा रखती है । उपन्यासकार इस सांस्कृतिक-बोध के परिप्रेक्ष्य में गोपा के " जन्म-दिन " का वर्णन करते हुए कहता है - " गोपा का जन्म-दिन प्रति वर्ष संगीत-गोष्ठी के रूप में संपन्न होता था । + + + प्रतिदिन सबेरे श्रीमती नाथ इस जन्म-दिन को भारतीय-पद्धति से संपन्न करवाती है । पण्डित से पाठ-पूजन, आशीर्वचन हो जाता है । परिवार के तथा अतिनिकट घनिष्ठ इष्ट मित्र सबेरे ही गोपा को उपहार आदि दे देते हैं । उपरान्त दोपहर का सामूहिक भोजन होता है ।[2]

भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार पुरुष नारी का " पति " या " स्वामी " माना गया है । नारी उसकी अनुगामिनी होती है । इस सांस्कृतिक-बोध को उपन्यासकार ने " गोपा " तथा " महिम " के संवाद के माध्यम से स्पष्ट करने की चेष्टा की है -

" महिम - धन्यवाद दूं गोपा जी । आपको ।

गोपा - क्या ? आप मुझे मात्र गोपा नहीं कह सकते ?

1- " प्रथम फाल्गुन ", वही, पृ० 23

2- वही, पृ० 24

— कह सकता हूं, बल्कि कहना भी चाहूंगा, पर एक शर्त पर ।

— क्या ?

— यदि मुझे भी मात्र महिम ही कहा जाए ।

— यह नहीं होगा ।

— क्यों ?

— इसलिए कि नारी कभी पुरुष नहीं हो सकती । नारी को यह शोभा नहीं देता । इससे संतुलन बिगड़ जाता है ।

— मैं नहीं जानता कि तुम इतनी परम्परावादी हो । "[1]

उक्त संवाद में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को व्याख्यायित करके रचनाकार ने अपने भारतीय सांस्कृतिक-बोध को प्रतिबिम्बित किया है ।

कभी-कभी सांस्कृतिक-बोध पौराणिक पात्रों, घटनाओं, कथाओं, अनुष्ठानों आदि के द्वारा भी अभिव्यक्त होता है ।आलोच्य उपन्यास में लेखक ने " गोपा " तथा" महिम " के पारस्परिक वार्तालाप के माध्यम से अपने सांस्कृतिक -बोध को उजागर करते हुए लिखा है —

महिम —" हमारी यह आँधियों भरी महान यात्रा पाण्डवों की महाप्रस्थान वाली यात्रा से कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

गोपा — लेकिन उसमें तो अन्त में केवल युधिष्ठिर ही पहुंचे थे ।

महिम — हां, अन्तर तो है ही । न मैं युधिष्ठिर हूं और न तुम द्रौपदी।"[2]

भारतीय संस्कृति" अवतारवाद" में आस्था रखती है । श्री कृष्ण को" भगवान " माना जाता है और भाद्र मास कृष्ण पक्ष की " अष्टमी " को पूरे भारत में" कृष्ण जन्माष्टमी " महोत्सव के रूप में प्रतिवर्ष मनाया जाता है । इस दिन नर-नारी निर्जल या फलाहार व्रतादि करते हैं । श्रीकृष्ण की मूर्ति की" झांकी " दिखाई जाती है । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक का यह सांस्कृतिक बोध उल्लेख्य है —

1- प्रथम फाल्गुन - वही, पृ० 53

2- वही, पृ० 60

" श्रीमती नाथ - अरे बेटे । आज तो मुझे बिल्कुल ही फुर्सत नहीं । फिर आज तो मैं निर्जल उपवास रहती हूं । अभी झांकी का सारा काम पड़ा है । अकेली गोपा क्या क्या करे । लोगों को शाम के लिए जलपान का प्रबन्ध करता है । + + + + झांकी के लिए केले के खम्भों से कितनी सुन्दर नक्काशीदार महराबें जालियां छज्जे आदि दोनों ने बनाए थे । गोपा ने गुजराती-मराठी ढंग की रंगोली से सारा पूजा-घर अल्पित किया था । + + + पूजनोपरान्त अब भजन-कीर्तन प्रारम्भ हुआ, तो उसे घोर वितृष्णा हुई । हम हिन्दीवाले क्या कभी संस्कारशील नहीं हो सकते ? हमेशा बंगालियों का कीर्तन - भजन सुनते हैं, पर कभी भी उससे प्रेरणा नहीं ग्रहण करते बल्कि फूहड़ ढंग से " ॐ " जय जगदीश हरे ", " रामधुन " करते बैठ जाते हैं । पूजा की तन्मयता हिन्दी वालों के किसी भी उत्सव में नहीं होती ।"[1]

यदि कोई रचनाकार धर्म, संस्कृति और पुराण से उपकरण जुटाकर अपनी अभिव्यक्ति को प्राणवान बनाता है, तो उससे उसका सांस्कृतिक-बोध निश्चय ही परिलक्षित होता है ।

महिम के द्वारा उपन्यासकार अपने सांस्कृतिक-बोध को वाणी देता हुआ कहता है --" ऐसा चलना तभी संभव होता है, जब हमारे पैरों में वही पवित्र्य आ विराजता है, जो हमारी " आत्मा " में होता है । इसीलिए महापुरुषों के पैर पूजे जाते हैं । वे साधारण पैर नहीं होते, उन्हें चरण कहा जाता है । इसीलिए महापुरुष भी अश्वत्थवत् होते हैं । प्रत्येक में यह अश्वत्थ निहित होता है, केवल उसके बोध हो जाने की ही बात है ।"[2]

" आत्मा " ," अश्वत्थ ", पावित्र्य "" महानन्द " आदि शब्दों में भारतीय सांस्कृतिक-बोध की झलक प्रतिबिम्बित होती है ।

उपन्यासकार मेहता जी धूप और प्रकाश में दैवी शक्ति का आभास देखते हैं । भारतीय उपनिषद कहता है कि " सर्वं खल्विदं ब्रह्म " अर्थात् सृष्टि का कण-कण विराट सत्ता से प्रतिभासित है । इस सन्दर्भ में लेखक कहता है कि - " धूप और प्रकाश की भाषा उसे रामायण की स्पष्ट खुली रचना

1-" प्रथम फाल्गुन " वही, पृ० 67-68

की भाँति लगती है। जहाँ सब कुछ व्यवस्थित पकड़ सकने की सीमा में लगता है। पर रात्रि की यात्रा तथा उसका अस्तित्व उसे महाभारत की ही भाँति अगम्य तथा मानवेतर लगते रहे हैं। रामायण तथा महाभारत के बारे में उसे सदा ऐसा लगता है कि एक आदर्श है तथा दूसरा यथार्थ है। रामायण मानव के लिए लिखी गयी है, जबकि महाभारत मानव पर लिखी गयी है। इसलिए रामायण में पवित्रता लगती है, जबकि महाभारत में केवल शक्ति, वैराट्य, अंधी खोहों से भरा निमंत्रण देता प्रशान्त महासागर लगता है। रामायण की हम पूजा करने के लिए बाध्य हैं, पर महाभारत हममे अहोरात्र घटित होता है। इसलिए रामायण दैवी है, तथा महाभारत मानवीय है।"[1]

भारतीय-दर्शन एवं संस्कृति की मान्यता के अनुसार मनुष्य का " मन " बड़ा ही चंचल होता है।" श्रीमद्भगवत्गीता " में श्रीकृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि — " मनो हिचन्चलं पार्थ ।
वायोरिवसुदुष्करम् " (गीता)

इसी भारतीय सांस्कृतिक-बोध को लेखक ने आलोच्य उपन्यास में " गोपा " के माध्यम से व्यंजित करते हुए लिखता है – " मैं जानती हूँ महिम। मनुष्य का मन चंचल पानी के समान होता है। अब देखो न कि कितना बड़ा दुःख इस समय मेरे सिर पर मण्डरा रहा है और तुमसे कैसी-कैसी बातें करने बैठ गयी हूँ।"[2]

सांस्कृतिक-बोध एवं सांस्कृतिक-मूल्य ही प्रस्तुत उपन्यास " प्रथम फाल्गुन " की प्रमुख " थीम " तथा कथ्य की " सेण्ट्रल आइडिया " कहा जा सकता है। इस सांस्कृतिक-बोध एवं सांस्कृतिक मूल्य की रक्षा के लिए ही इसका नायक " महिम " लम्बे अर्से से संजोए गए " गोपा " के प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम का त्याग देता है। जब महिम को यह रहस्य ज्ञात हो जाता है कि " गोपा " किसी अनाम की सन्तान है, तो वह उसे उपेक्षित कर देता है। महिम भारतीय संस्कार एवं संस्कृति से प्रभावित होने के कारण वर्ण-संकरी

1- " प्रथम फाल्गुन ", वही, पृष्ठ 158-159 ।

2- वही, पृ० 221

विवाह कदापि नहीं करना चाहता है । सांस्कृतिक-बोध तथा सांस्कृतिक-मूल्यों की रक्षा को ही जीवन में सर्वोच्च मानकर " महिम " अपने चिर-संचित-वर्द्धित " प्रेम " के महोच्च प्रासाद को धाराशायी कर देता है । यह सांस्कृतिक -बोध नायक" महिम " का ही नहीं है, बल्कि श्री नरेश मेहता के भारतीय मानस का भी है ।

साथ ही आलोच्य उपन्यास में युगीन मूल्यों की भी अभिव्यक्ति ध्वनित होती हुई दिखाई पड़ती है ।" गोपा "आधुनिक सांस्कृतिक-मूल्यों में आस्थावती है । वह आदर्शवादी मूल्यों को पूर्णतः नकार देती है । इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों तथा पाश्चात्य सांस्कृतिक-मूल्यों की टकराहट की तीव्र अनुगूंज सी ध्वनित होती है । अस्तु, भारतीय सांस्कृतिक-बोध की स्थापना ही रचनाकार का मुख्य मन्तव्य परिलक्षित होता है ।

::::::::::

अध्याय - षष्ठम्

" संस्मरणों और यात्रा वृत्तान्तों के सन्दर्भ में संस्कृति-अन्वेषण "

" शब्द - पुरुष - अज्ञेय "

श्री नरेश मेहता द्वारा रचित " शब्द-पुरुष-अज्ञेय " सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन " अज्ञेय " के लेखन एवं व्यक्तित्व का आकलन नहीं अपितु स्मरण है और वह भी संस्मरणात्मक आत्मीय भूमि पर से ही किया गया है । साथ ही एक अग्रज समकालीन को किस सम्यकता से देखा जाना चाहिए, उसकी चेष्टा की है । इसमें " शब्द-पुरुष-अज्ञेय " वात्स्यायन जी के लिए एक ऐसा विशेषण है, जो अपनी अर्थवत्ता एवं सारगर्भिता के साथ-साथ नए प्रतिमानत्व का भी पूर्ण व्यंजक है । यह तो सत्य ही है कि अज्ञेय जी शब्द मर्मज्ञ एवं शब्द सम्राट थे किन्तु साथ ही लेखक ने परम्परामुक्त या साहित्य प्रयुक्तभुक्त शब्द का प्रयोग न करके नए विशेषण का साभिप्राय प्रयोग किया है । प्रयोगवादी कवियों की दृष्टि में परम्परा प्रयुक्त शब्द " घिस " गये हैं । उनका मुलम्मा छूट गया है । वे निर्बल एवं अशक्त से हो गये हैं । यह प्रयोग धर्मी मानसिकता भी " शब्द-पुरुष " के प्रयोग में प्रतिबिम्बित होती है । इस आलेख के पूर्व भी नरेश जी ने अपने एक और आत्मीय मुक्तिबोध का स्मरण किया है । निश्चित ही ये दोनों स्मरण आलेख हिन्दी साहित्य में सर्वथा एक नये प्रकार की शैली और आस्वाद को जन्म देते हैं ।

किसी लेखक की रचना को पढ़ना और उस लेखक को अपने सामने पाना, उसे देखना और उसके साथ होना, अवसर मिले तो उस लेखक

के सोच और रचना पर एक ईमानदार और जिज्ञासु संवाद करना एक भिन्न और रोमांचक अनुभव होता है । कई भ्रम दूर होते हैं । वास्तविकताओं को जानना कभी अच्छा भी होता है और कई बार बुरा भी । एक व्यक्ति और लेखक के बीच के द्वन्द्व, उसके अन्तर्विरोध और कर्म और शब्द के बीच की फांक को जानने और देखने का कोई अन्य तरीका है भी नहीं । श्री नरेश मेहता जी ने" शब्द-पुरुष अज्ञेय " की भूमिका में लिखा है —

" वात्स्यायन जी के स्मरण शब्द से ही मन में न जाने कितनी गूंजें, प्रतिगूंज बनकर आप्लावित किये हैं । सच तो यह है कि आत्मीयता एक ऐसा वलय है जो अन्तर बाहन घेरे- रहती है । छवियां और शब्द बनकर जहां वह उपस्थित रहती है वहां वह बाह्य जीवन प्रसंगों की साक्षी बन अहोरात्र पुकारती होती है । कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि वे वर्षों ही शायद सुखद थे, जब हम प्रति-उपेक्षा के विन्ध्याचल के विपरीत छोरों पर क्यों असंग खड़े थे, तब न राग था न आत्मीय सम्बन्ध परन्तु जीवन के अन्तिम दशक में जैसी निकटता हुई । उसे हठात् खो देना कितना त्रासद है कि साहित्य और जीवन का सारा स्वाद ही तुरा गया है । कितने कम लोग होते हैं जिनका बीतना अपने बीतने जैसा लगता है । वात्स्यायन जी की निकटता आत्मीय बनकर ऐसी गहराएगी यदि यह जानना होता तो उपेक्षा के विन्ध्या लांघता ही क्यों ? वस्तुत: वात्स्यायन मेरे लिए एक साहित्यिक व्यक्तित्व या औपचारिक नाम ही नहीं है बल्कि एक संपूर्ण सर्जनात्मक अनुभव जैसा है । "

नरेश जी के निकट होना या हो पाना सरल नहीं है क्योंकि उनके निकट होना आपके चाहने पर ही निर्भर नहीं करता है । यह तो केवल नरेश जी पर निर्भर करता है कि वह आपको अपने निकट आने देना चाहते हैं या नहीं । व्यक्ति के चुनाव में उनके मानदण्ड कठोर होते हैं । साथ ही की प्रक्रिया भी जटिल एवं दीर्घ होती है । आधारभूत रूप से वह चाहते और

परखते भी हैं कि मनुष्य, मनुष्य की तरह और एक सर्जक -सर्जक का सृजनशील होना ही पर्याप्त नहीं है, उसे अपने आचरण और भंगिमा से भी सर्जक ही लगना चाहिए । यह कतई आवश्यक नहीं कि एक रचनाकार होने के कारण उनकी पसन्द केवल सृजनशील व्यक्ति ही हो । वह किसी सामान्य व्यक्ति के प्रति भी आत्मीय हो सकते हैं । अज्ञेय वात्स्यायन से नरेश जी की पहली मुलाकात सन् 1947 में प्रयाग में " प्रगतिशील-लेखक-संघ " के दूसरे अधिवेशन में हुई। नरेश जी ने वात्स्यायन से प्रथम परिचय में ही उनके साथ काफी हाउस तक की यात्रा, काफी हाउस में साथ-साथ बड़ी देर तक बैठे रहना, कुछ जानना और थोड़ा बहुत अपनी ओर से कहना । उन्हीं के शब्दों में देखें ---
वात्स्यायन के दर्प, अहंकार या " अशोभनीय मौन " को लेकर लेखकों को प्रायः शिकायत रही है उसमें वात्स्यायन का अपना स्वभाव, परिस्थितियाँ आदि निश्चित ही कुछ तो कारण रही ही है, परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इसमें स्वयं हिन्दी लेखकों का भी कम दोष नहीं था । सन् 40 से 50 का दशक ऐसा था जब वात्स्यायन एक प्रकार की मानसिक हताशा के कालखण्ड से गुजर रहे थे । अभी उनके पास गर्व या अहंकार करने के लिए उपलब्धि की कोई खास पूंजी भी नहीं थी । यदि उनके साथ तत्कालीन मित्रों, लेखकों ने समवयस्कीपन का भाव और आचरण किया होता तो काफी कुछ वात्स्यायन सहज हो सकते थे । + + + + वस्तुतः गत चालीस-पचास वर्षों में साहित्य की गाड़ी उनके कारण उतार ही ज्यादा रही, पर इसमें केवल वात्स्यायन ही कारण नहीं हैं । जैसा कि, मैंने पहले कहा कि वह कुछ विशिष्ट हैं और इसे अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि वैशिष्ट्य था तो - पर यदि उसका उचित समाधान हो जाता तो अच्छा ही था - स्वयं वात्स्यायन के लिए भी और साहित्य के लिए

नरेश जी का मानना है कि वात्स्यायन को सहज हमने नहीं होने दिया । जीवन के उत्तरकाल में जब वह सहज होना भी चाहते

1-" शब्द-पुरुष-अज्ञेय - श्री नरेश मेहता, पृष्ठ -11 .

रहे लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी । वात्स्यायन से नरेश जी का प्रथम परिचय भी आत्मीय शहर इलाहाबाद में ही हुआ था । नरेश जी को अपनी जन्मस्थली मालवा (मध्य प्रदेश) सदृश ही कर्मस्थली इलाहाबाद से भी न केवल साहित्यिक स्तर पर ही बल्कि संवेदनात्मक स्तर पर भी बेहद लगाव है । वात्स्यायन का भी इस शहर से खासा लगाव था, उनके भीतर भी इस बीतते शहर के टूटे मन की कराह सुनी जा सकती थी, पर मौन । नरेश जी शब्द पुरुष अज्ञेय " पुस्तक में वात्स्यायन के साथ-साथ अपने शहर इलाहाबाद का स्मरण करते हुए लिखते हैं --

" आज जब मैं घर के नाम पर कल के इस " साहित्यिक मक्का " इलाहाबाद आता हूँ और हर दूसरे तीसरे महीने आता ही हूँ तो शंकरगढ़ के आगे विन्ध्या के अंतिम पथरीलेपन को उतरकर जैसे ही यमुना ब्रिज आता है, और क्षितिज में मकानों की एक लकीर सी खिंची दिखने लगती है जो किले पर जाकर गांठ बन जाती है तो लगता है जैसे आपके भीतर दिल के कांच पर किसी ने हीरे लगी कलम से एक रेखा खींच दी और आपका एक हिस्सा निःशब्द हमेशा-हमेशा के लिए अलग हो गया । घर लौटने का सारा उत्साह, सुख जैसे एक विषाद में परिवर्तित हो जाता है । + + + + अब तो यह है कि उस इलाहाबाद का उजड़ना, साहित्य का, साहित्य की केन्द्रीयता का उजड़ना था जिसका कि स्थान कालान्तर में न तो दिल्ली ही ले सकी और न बांस खोखला आपका यह रम्य शहर भोपाल । "[1]

इलाहाबाद शहर वैसे तो सदा से ही राजनीति की धुरी रहा है - पंडित जवाहर लाल नेहरू, डा० राम मनोहर लोहिया प्रभृति राजनेता उपस्थिति दर्ज करवाते रहे हों पर शहर की आत्मा तो महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी " निराला ", पंत, महीयसी महादेवी वर्मा से लेकर आधुनिक के पुरोधा श्री नरेश मेहता , डा० लक्ष्मीकान्त वर्मा, डा० रघुवंश, डा० जगदीश गुप्त, डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी, श्री केशव चन्द्र वर्मा, डा० राम कमल राय, डा० सत्य प्रकाश मिश्र, श्री दूधनाथ, श्री मार्कण्डेय, शेखर जोशी, अमर कान्त एवं शैलेश मटियानी आदि साहित्यकारों की उपस्थिति आज भी इस साहित्यिक तीर्थ को उजड़ने नहीं देना

1- " शब्द पुरुष अज्ञेय " - नरेश मेहता, पृ० सं० 5

आज का इलाहाबाद कल का बीता हुआ इलाहाबाद है । मुझे ऐसा नहीं लगता -- हाँ इतना कहा जा सकता है कि पिछले वर्षों में इस शहर का क्रमशः उतरना त्रासद है । पिछले कुछेक महीनों से हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला शृंखला " अज्ञेय स्मृति व्याख्यानमाला," महीयसी महादेवी व्याख्यानमाला"," कथाकार प्रेमचन्द स्मृति व्याख्यानमाला ," भाषा एवं राष्ट्रीय अस्मिता व्याख्यान, शृंखला आदि के माध्यम से साहित्यिक हस्तियों के जमावड़ों से शहर में पुन: जीवन्तता का संचरण हुआ है ।" अज्ञेय स्मृति व्याख्यानमाला " शृंखला जिसमें स्वयं नरेश जी भी थे हिन्दी संस्थान एवं साहित्य अकादमी लखनऊ के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने कहा कि " मुझे साहित्यिक गोष्ठियों में जो गर्म जोशी इलाहाबाद में दिखाई देती है वह लखनऊ में नहीं । इसके लिए वर्मा जी ने एकेडेमी के अध्यक्ष डा० राम कमल राय जी को बधाई भी दी । जो वास्तव में कोटिशः बधाई के पात्र भी हैं जिनके अथक प्रयासों ने शहर के साहित्यकारों में सक्रियता के स्पष्ट चिन्ह परिलक्षित होने लगे हैं । प्रमोद त्रिवेदी जी अपनी पुस्तक" नरेश मेहता एक एकान्त शिखर " में नरेश जी के व्यक्तित्व के विषय में लिखते हैं -- " इलाहाबाद धार्मिक तीर्थ ही नहीं, कभी साहित्य का तीर्थ भी रहा है । + + + + चाहे उस दिन नरेश जी के व्यक्तित्व पर ध्यान न दिया गया हो पर इतना तो निश्चित उसी सत्र में कर लिया था कि भोपाल में आयोजित इस" साहित्यिक-सांस्कृतिक कुम्भ " इलाहाबाद से आये इस " महन्त " से अवश्य मिलना ही है जिसका अपना न तो कोई मठ है है न ही जमात । वह स्वयं अपनी ध्वजा भी है और ध्वजावाहक भी । मठाधीश चाहे वह न हो पर वह सामान्य भीड़ भी नहीं है । उसे महत्व न दिया जा रहा हो पर उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है । वह सब से अलग कर उसे एकाकी होने का न तो भय है और न ही चिन्ता ------ जैसे कोई एकान्त शिखर । "[1]

भारतीय साहित्य में नरेश जी भारतीय संस्कृति के उन्नायक के रूप में स्मरणीय रहेंगे, जीवन में भी उनकी रुझान उन मूल्यों के प्रति उतनी

1- " नरेश मेहता एक एकान्त शिखर " - प्रमोद त्रिवेदी, पृष्ठ 5

ही गहरी है । हमारे देश में तप एक बहुत बड़ा मूल्य रहा है । नरेश जी ने भी अपने जीवन में तपश्चर्या का पूरा महत्व दिया है – आध्यात्मिक मूल्य साधना के स्तर पर भी और कर्मकाण्डीय स्तर पर भी । भारतीय संस्कृति के विकास क्रम में जो अनेक विकृतियाँ आती गयी हैं । नरेश जी उनको लेकर बहुत ही चिन्ताशील रहे हैं । वैदिक संस्कृति को पौराणिकता ने जिस प्रकार संशोधित -परिवर्धित किया है उस पर भी उनकी पूरी सहमति नहीं है । उनकी दृष्टि में जहाँ पुराणों ने राम और कृष्ण के मनुष्य रूप को एक ईश्वरत्व प्रदान करके एक नयी भागवत-भक्ति की परंपरा का शुभारम्भ किया वहीं उन्हीं पुराणों ने वेद के सर्वमान्य एवं सर्व प्रमुख देवता इन्द्र के चरित्र को अधःपतित करने की दुरभिसन्धि की । इन्द्र के साथ किया गया यह अति चार संस्कृति के वैदिक प्रवाह को कई अर्थों में क्षरित करता है । नरेश जी ने लिखा है -- " वेद में जो विष्णु गौण देवता हैं उनकी वैदिक वामनता को पुराणों ने विराटता में परिणत कर दिया । विष्णु को ऐसी प्रमुखता मिलने में निश्चय ही इन्द्र बाधक हो सकते थे अत: जिस रूप में , जिस भाषा में और जिस कुशलता के साथ इन्द्र को विष्णु के महाभिषेक में बलि पशु बनाया गया वह नितान्त जघन्य कृत था ।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नरेश मेहता की दृष्टि अपने प्राचीन ग्रंथों तथा उनके प्रतिपाद्य को ज्यों का त्यों अन्ध स्वीकृति प्रदान करनेवाली नहीं है वे मूल्यान्वेषण की कोशिश में समस्त सांस्कृतिक चेतना " के विकास को उनके अन्तर्विरोधों के साथ देखते हैं तथा उसके स्वस्थ पक्ष को ही स्वीकार करते हैं ।

गंगा के द्रौपदी घाट पर नरेश जी वात्स्यायन के साथ बैठे थे ---" मैं गंगा की इस विपुल प्रशान्तता में कहीं अपने से दूर बहा गया था कि मुझे सुनायी दिया जैसे वात्स्यायन कुछ कह रहे हैं --- " आपकी कविताओं से तो लगता है कि आप अच्छी खासी वैदिक परम्परा से आते हैं । मैं हठात् नहीं समझ सका कि वह क्या जानना चाहते हैं । मैंने भी शायद कुछ ऐसा ही कहा था कि" दैनिक सामान्य पूजा-पाठ तो परिवार में आज भी है पर हाँ, को अवश्य विशिष्ट पूजा-पाठ आदि करते देखा था ।"[2]

1- भूमिका-महाप्रस्थान, पृ० 21 , (2) नरेश मेहता-शबद पुरुष अज्ञेय, पृ० 30

वात्स्यायन मेहता जी के उपन्यास की भूमिका लिखना चाहते थे, लेकिन नरेश जो भी वात्स्यायन की तरह ही अपने स्वत्व एवं संकल्प को निष्ठा एवं आग्रह के साथ धारे रहते हैं । इस बीच कुछ अवांछित घटित हो गया । नरेश जी अपने उपन्यास की पाण्डुलिपि लेने दिल्ली वात्स्यायन जी के घर पहुंचे वात्स्यायन तेजी से बाहर निकले और आते ही उन्होंने पूछा कि " कहिए " ?---- जो मुझे अप्रिय लगा + + + खैर कुल यही कहा " वो मेरा उपन्यास " ---- आप एक मिनट रुकें " कहते हुए भीतर चले गये और सचमुच एक ही एक मिनिट में पाण्डुलिपि लाकर देते हुए बोले " अच्छा " । + + + + उनके इस आचरण को मैं नहीं समझ पा रहा था कि इसे शिष्टता की किस कोटि में रक्खा जाय और मुझे लगा कि मेरा वात्स्यायन से यह अन्तिम मिलना है । स्वत्व की अवमानना के मूल्य पर जब न जाने क्या -क्या घर- परिवार, नौकरी-चाकरी छोड़ता आया तब भला ---- और दुबारा जिसे मिलना कहा जाता है उसके लिए दोनों को ही लगभग पच्चीस वर्षों से भी अधिक की प्रतीक्षा करनी पड़ी ।"[1]

प्रकृति की मनुष्य से दुहरी अपेक्षायें हैं - जैविक भी और सृजनात्मक भी । जैविक दृष्टि से तो यह सृष्टि तथा अन्य सारे प्राणी प्रकृति की इस अपेक्षा को बहुत कुछ अंशों और रूपों में पूरा करते हैं परन्तु जिस - सृजनात्मकता की उसे अपेक्षा है, जो कि कहीं अधिक मूल्यवान है वह तो केवल मनुष्य द्वारा ही संभव है । + + + जिस सृजनात्मकता में यह निर्वैयक्तिकता या असम्पृक्तता जितनी ही प्रभूत और संकल्पात्मक होगी वह उतनी ही देश कालातीत होगी । सृजनात्मकता के बारे में इसे क्लासिकी दृष्टि कहा जायेगा । टी०एस० इलियट ने भी इसी बात को अपने तरीके से स्वीकारा है तथा वात्स्यायन भी वैचारिकता के स्तर पर यही मानते रहे । वात्स्यायन ने अपनी प्रकृतिग्राही मानसिकता का एक भिन्न धरातल प्रस्तुत किया है - प्रकृति अपने प्रकृत रूप में उपस्थित है और मानव- अनुभूति का, उसकी संरचना को उसके

1- नरेश मेहता -" शब्द पुरुष अज्ञेय ",पृ० 31

पूरे व्यक्तित्व को अपनी उदात्तता से परिपूर्ण करती है । यही दृष्टि अज्ञेय की अधिकांश कविताओं में है । वन्दनीय गुरुवर डा० राम कमल राय के शब्दों में —

" नरेश मेहता की काव्य दृष्टि प्रकृति के इस उदात्त रूप को और भी विशद एवं विभ्रान्ति भाव से ग्रहण करती है । प्रकृति उनकी समूची संस्कृति में इस प्रकार केन्द्रीय सत्ता बनकर उसे नयी क्रान्ति और नया संस्कार प्रदान करती है, जिसे देखकर आश्चर्य होता है । नरेश मेहता प्रकृति से इस प्रकार साक्षात्कार करते हैं कि उसी साक्षात्कार के परिणामस्वरूप उनका मन सहज मानवीय विकारों से अपने को मुक्त करता हुआ लगता है । उनके व्यक्तित्व के उदात्तीकरण में सब से बड़ा योग प्रकृति के प्रति उनकी काव्य दृष्टि का ही है ।"[1]

अत: हम कह सकते हैं कि प्रकृति को अपनी पूरी सांस्कृतिक अनुभूति का अविभाज्य अंग बनाकर ग्रहण करना और उसे उसी में अभिव्यक्ति देना नरेश जी की प्रकृति दृष्टि की सब से केन्द्रीय प्रवृत्ति है इसमें भले ही कहीं-कहीं प्रकृति के साथ बलात तादात्म्य करने का भाव दिखे, परन्तु मूलत: यह दृष्टि एक आर्ष व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण रचनात्मक परिणति का साक्ष्य प्रस्तुत करती है । प्रकृति के भारोखे से संस्कृति की पहचान और शोध की जो प्रक्रिया नरेश जी के कवि व्यक्तित्व में आज से तीस वर्ष पहले प्रारंभ हुई थी समस्त आर्ष साहित्य के मंथन और चिन्तन के बीच से गुजरती हुई आज अपनी उत्सवा भूमि पर है। आज भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम गायकों में नरेश जी का नाम लिया जा सकता है ।

कवि कर्म की सब से बड़ी कसौटी भाषा है । किस बिन्दु पर अभिव्यक्ति कविता बन जाती है और कहाँ वह केवल एक कथन मात्र बनकर रह जाती है इसका निर्णायक तत्व भाषा ही है । नरेश जी " शब्द-पुरुष " अज्ञेय " में शब्द " की सत्ता को स्वीकारते हुए लिखते हैं — " यदि कोई सत्ता है तो वह मात्र शब्द की जिसे वह प्रयुक्त कर रहा है । शब्द से इतर-अन्य कैसी सत्ता पाखण्ड है, अवैज्ञानिक है । शब्द से इतर जब कविता ही नहीं संभव है तब अन्य

1-डा० राम कमल राय -" कविता की ऊर्ध्व यात्रा " ,पृष्ठ 69

किसी सत्य की कल्पना निरी वंचना ------- और नन्दादेवी और कवि के बीच मेघ-कपाट बन्द हो जाते हैं, पटाक्षेप हो जाता है । "[1]

लेखक का उद्धरण उसकी 'शब्द पुरुष अज्ञेय' के नामकरण सम्बन्धी दृष्टिकोण को काफी दूर तक स्पष्ट करता है । इसी सन्दर्भ में हम शब्द पुरुष के शब्दों में देखें :-- " आज भी मेरे सामने जो समस्या है और जिसका हल पा लेना मैं अपने कवि जीवन की चरम उपलब्धि मानूँगा, वह अर्थवान शब्द की समस्या है । काव्य सब से पहले शब्द है । -- और सब से अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है । सारे कवि धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं । शब्द का ज्ञान- शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृति बनाती है । + + + + + जो कवि शब्द के संस्कार के प्रति सजग नहीं है (और जैसे जीव हर कर्म उसके संस्कार को बदलता है वैसे ही शब्द का प्रत्येक उपयोग उसे नया संस्कार देता है) वह अर्थवान् शब्द का साधक नहीं है और मैं कहूँगा कि वह कवि नहीं है, न होगा । "[2]

नरेश जी की भाषा का स्वरूप बहुत दूर तक इस देश की आर्ष-चिंतन परंपरा से निर्मित हुआ प्रतीत होता है । उनकी शब्दावली आर्ष-चिन्तन की शब्दावली है ।

प्रस्तुत स्मरणात्मक पुस्तक में नरेश जी ने जिस पुरुष को स्मरण किया है उससे एक लम्बे अर्से लगभग 25 वर्षों के अकेलेपन के बाद दुबारा मिलने का श्रेय नरेश जी ने जिन व्यक्तियों को दिया है उनमें मुख्य भूमिका उनकी स्वयं की पत्नी महिमा जी को एवं डा० राम कमल राय जी को जाता है । 'शब्द पुरुष अज्ञेय' में नरेश जी लिखते हैं -- " पत्नी महिमा जी ने अपने कान्ता सम्मति ढंग से मुझे समझाया कि अज्ञेय जी के इस आग्रह की रक्षा करनी ही चाहिए क्योंकि जब मेरे मन में उनको लेकर हमेशा आदर और आत्मीयता

1- नरेश मेहता -' शब्द पुरुष अज्ञेय ', पृ० 73

2- 'तार सप्तक' प्रथम संस्करण, 1943 की भूमिका - अज्ञेय

ही रही है तब व्यर्थ की बातों से जो वर्गों का तनाव है वह आखिर दूर किस प्रकार होगा । + + + +

डा० राम कमल राय जी ने वात्स्यायन पर एक आलोचना ग्रन्थ लिखा था, जो मुझे अच्छा लगा था । उनसे प्राय: वात्स्यायन पर भी चर्चा होती रहती थी । शायद है उन्होंने ही " लिएसाँ " का काम किया हो और बाद में इस अनुमान की पुष्टि भी हुई ।"[1]

वात्स्यायन के आत्मीय होने पर नरेश जी इसने उल्लसित हो उठे जैसे उन्हें अपनी खोई हुई निधि मिल गयी हो । वास्तव में अज्ञेय के साहित्यिक कृतित्व और व्यक्तित्व को वे सम्मान देते रहे हैं । अपने अन्तर में उन्हें अर्से से वे उसी सम्मान की पीठिका पर रखते रहे थे तभी तो हठात् जब आवरण हटा तो भीतर की स्नेह धारा पूरी वेगवता से फूट पड़ी । स्वयं नरेश जी के शब्दों में देखें -- " वात्स्यायन जी की ऐसी आत्मीयता मुझे मिली जो मेरी वेश भूषा में ही नहीं, स्वत्व में भी रच बनकर सुवासित है ।"

यहाँ हम उनके लेखन का मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं । यहाँ तो बस इतना ही मेरे लिए पर्याप्त होगा कि रचनाकार ने प्रस्तुत ग्रंथ " शब्द-पुरुष अज्ञेय " में संस्कृति अन्वेषण किन-किन प्रसंगों में किया है । संस्कृति अन्वेषण के प्रति एक कुतूहलभरी उत्सुकता लेखक के मन में थी और जिसकी खोज की आकांक्षा देखें --

नन्दीग्राम से अयोध्या लौटते हुए मैं और वात्स्यायन जी अकेले ही थे । बड़ी देर तक राम कथा को लेकर चर्चा चलती रही कि क्या यह लोक कथा है या ऐतिहासिक या प्रतीक-कथा है । राम और कृष्ण से जुड़े हुए स्थल, धर्मभाव की चाहे जितनी दुहाई दे परन्तु ये हमारी सृजनात्मकता को अपील क्यों नहीं करते ? इनकी कथायें जितनी मार्मिक है लेकिन इनसे जुड़े स्थल क्यों केवल शब्दों में' तीर्थ " बनकर निर्जीव हो गये हैं । संस्कृति को लेकर

1- नरेश मेहता -" शब्द पुरुष अज्ञेय ", पृ० 79

वात्स्यायन की भी चिन्ता तात्विक के साथ-साथ सृजनात्मकता के स्तर पर अधिक गहराती जा रही थी । तीर्थ जो कभी प्रकृति की ऊर्जास्विता के पर्याय रहे होंगे कालान्तर में ऐसे भ्रष्ट होते गये कि उनमें की आधारभूत प्रयोजन-दृष्टि ही समाप्त हो गयी । दुहाई देने के लिए हम उन्हें जो भी और जैसा भी आदर व्यक्त करें परन्तु हममें ये प्रा‌कृतिक ओजस्विता प्रति सृजनात्मकता की तेजस्विता क्यों नहीं जाग्रत करते ? वहाँ भूल से अगर आप पहुंच गये हैं तो एक अजीब प्रकार की उदासी अनास्था आप में जगने लगती है ---- वृन्दावन ,करीलकुंज, यमुनापुलिन--
केवल आपको शब्द लगते हैं और वह भी ऐसे जैसे चुसे हुए गन्ने के छोकल हों । चित्रकूट में प्राकृतिक रम्यता न होती तो उसके तीर्थत्व को दुर्गति से केवल वितृष्णा ही होती ।"[1]

संस्कृति की खोज के अनेक माध्यम हो सकते हैं ,हैं ही । परन्तु एक कवि लेखक के लिए जो सहज उन्मेष प्रकृति के वातायन हो संभव है, वह अन्य स्रोतों में नहीं, लेखक का जो महिमामण्डित विराटत्व इस नाना रूपी प्रकृति के माध्यम से संभव नहीं है । नरेश जी ने भारतीय संस्कृति के सांस्कृतिक बोध को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया है जो व्यापक स्तर पर शताब्दियों से सोया हुआ है ।

000

1- नरेश मेहता -" शब्द पुरुष अज्ञेय " पृ० 86 ।

साधु न चलै जमात (एक सांस्कृतिक अन्वेषण)

यशस्वी कवि एवं कथाकार श्री नरेश मेहता द्वारा रचित " साधु न चलै जमात " साहित्यिक" यात्रा-वृत्तान्त " है । इसमें दो " यात्रा-वृत्त " है । एक अयोध्या से चित्रकूट तथा दूसरी मथुरा, वृन्दावन, नन्दगाँव बरसाना के साथ-साथ गुजरात में प्रभासतीर्थ, जूनागढ़ के इतिहास का चिन्तनपूर्ण विवेचन है । यह यात्रा-वृत्तान्त " वत्सल-निधि " के संस्थापक संचालक स्व० अज्ञेय के आग्रह आदेश पर सम्पन्न हुआ । इसमें अनेक साहित्य के महारथी - अज्ञेय नरेश मेहता, लक्ष्मी कान्त वर्मा, शंकर दयाल सिंह (दल के स्थायी कीलक-मार्शल) आचार्य रणवीर सिंह, डा० राम कमल राय आदि सम्मिलित हुए थे ।

ये यात्रा-वृत्तान्त मात्र विवरणात्मक नहीं है । इसमें लेखक के चिन्तन, गहन अध्ययन एवं सम्यक जीवन-दृष्टि को भी उजागर करने का उपक्रम है । हिन्दी में ऐसे चिन्तनपूर्ण सजीव, सहज संस्मरण संभवत: इसके पहले नहीं लिखे गये थे ।

प्रस्तुत" यात्रा-वृत्तान्त " के सन्दर्भ में लेखक श्री नरेश मेहता का कथन है कि -" इन यात्राओं का केवल इतना ही उद्देश्य था कि लेखक अपने देश के सांस्कृतिक स्वत्व और पारंपरिक स्वरूप से सर्जनात्मक स्तर पर हो सके, तो जुड़े । जुड़ने के प्रकार पर कोई आग्रह नहीं था । यदि सर्जनात्मक - स्तर पर लेखक देश की इस सांस्कृतिकता को अनुभव करता है, तो तदनुरूप अभिव्यक्ति का प्रकार भी आविष्कृत हो जाएगा । इसी उदात्त- भाव से दोनों यात्राएं आयोजित की गयी थी और संपन्न भी हुई ।"[1]

श्री नरेश मेहता की बौद्धिक-काया की धमनियों में शुद्ध सांस्कृतिक-रक्त अनुदाण प्रवाहित होता रहता है । अपने देश, अपने तीर्थ-स्थलों एवं संस्कृति के प्रति उनका असीम अनुराग उनकी सर्जना में बलात् अनुस्यूत

1-" साधु न चलै जमात " - प्रसंगवश शीर्षक से ।

हो उठता है । सचमुच, नरेश जी का समूचा साहित्य-पट " संस्कृति " के ताने-बाने से ही बुना हुआ दृष्टिगोचर होता है । सांस्कृतिक-बोध ही उनकी सर्जना का मेरुदण्ड है । जिस प्रकार फलों में " रस " पुष्पों में " सुगन्धि " एवं जीव मात्र की शरीर में " प्राण-तत्व " प्रमुख होता है, उसी प्रकार नरेश जी की रचनाओं में " सांस्कृतिक-बोध " सर्व प्रमुख है ।

लेखक " अयोध्या " में जब पहुंचता है, तब वहाँ राम जन्म स्थली की दुर्दशा देखकर मर्माहित हो उठता है । उसके सांस्कृतिक-बोध को कठोराघात लगता है । वह विक्षुब्ध होकर कहता है -

" जब राम और कृष्ण जैसे अवतारी पुरुषों के जन्म स्थान हमारे अपने ही देश में दुर्गति को प्राप्त हों, तब रोज-रोज के इन कानफोड़ बेसुरे अखण्ड मानस पारायणों तथा भजन-कीर्तनों वाली फूहड़ लाउड-स्पीकरी भक्ति का सच ही क्या कोई अर्थ है ? अपने आस्था-पुरुषों के प्रति ऐसी कापुरुष अवमानना क्या किसी अन्य धर्म, देश और जाति में संभव है ? "[1]

भारतीयों की उदार सांस्कृतिक मनोवृत्ति तथा भारत की धार्मिक मानासक्ता पर प्रकाश डालते हुए नरेश जी ने आलोच्य ग्रंथ में लिखा है -

" हमारे देश का यह अद्भुत स्वभाव है कि उदार है तो सीमातीत और अनुदार है तो कल्पनातीत । जल मात्र गंगा हो गया, तो कंकर मात्र शंकर । प्रत्येक बस्ती का यह दावा होगा कि राम-सीता उनकी बस्ती से गुजरे थे और सीता ने गांव के किनारे इसी अमराई में रसोई बनाई थी । इसी प्रकार पाण्डवों के अज्ञातवास के स्मारक दिखलाने के लिए प्रत्येक गांव उत्सुक मिलेगा । वाल्मीकि आश्रम के भी अनेक दावेदार हैं । उत्तर विहार का अपना दावा है, तो मिर्जापुर के पास टोंस (तमसा) के गंगा-संगम पर भी वाल्मीकि आश्रम का दावा पेश किया जाता है । चित्रकूट में प्रवेश के पहले बायें हाथ एक पहाड़ पर कहते हैं वाल्मीकि आश्रम था । "[2]

1- साधु न चलै जमात - नरेश मेहता, पृष्ठ 17

2- वही, पृष्ठ 34

" चित्रकूट" की भौगोलिक ऐतिहासिक संस्कृति का चित्रांकन करते हुए लेखक ने लिखा है -

" चित्रकूट का भूगोल वस्तुत: मध्य प्रदेश का पठारी भूगोल है और इतिहास ? इस देश में तो सिर्फ दिल्ली का इतिहास ही रहा है, तब भला चित्रकूट का क्या इतिहास हो सकता था । हमने बड़ी सावधानी बरती है कि धर्म और इतिहास को बराबर दूर रखा है । हमारे राम और कृष्ण धार्मिक महापुरुष हैं । यदि इतिहास पुरुष मान लिए जाते, तो हमारे इस समाजवादी धर्म-निरपेक्ष राज्य में उन पर वो-वो गुजरती कि दिन में तारे नज़र आने लगते । खैर, चित्रकूट के सभी धार्मिक एवं दर्शनीय स्थल मध्य प्रदेश की सीमा में है, जबकि बस्ती उत्तर प्रदेश में है । उत्तर प्रदेशीय चित्रकूट आधी मन्दाकिनी प्राप्त करके ही सन्तुष्ट है । "[1]

" चित्रकूट " के " कामदगिरि " का निरूपण करते समय लेखक का सांस्कृतिक - प्रेम प्रस्फुटित हो पड़ता है । नरेश जी लिखते हैं --
" दाहिनी ओर " कामदगिरि " धूप में जिस प्रकार दिख रहा था, उसमें किसी पहाड़ के खड़े होने का नहीं बल्कि किसी विशाल हाथी के बैठे होने का बोध था । इससे कुछ हटकर टेकरीनुमा दो चार छोटे पर्वत फैले हुए थे । "कामदगिरि " की भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक रम्यता के कारण ही न जाने किस गणनातीत शताब्दी में राम ने इसे अपने आवास के लिए चुना होगा । + + +
" स्फटिक-शिला " चित्रकूट से कोई पांच छह किलो मीटर दूर है । "स्फटिक शिला " और अनसूया- आश्रम " तो मन्दाकिनी के तट पर है परन्तु " गुप्त-गोदावरी " सर्वथा विपरीत दिशा में है । यह सब ब से दूर तथा अभिराम तीर्थस्थल है । जिस समय हम तीनों " स्फटिक-शिला " पहुंचे, उस समय वहां कोई दाता परिक्रमावासी साधु-सन्तों को भोजन करवा रहा था । अत: उस छोटे स्थान में तिल धरने की भी जगह नहीं थी । वहां की कोमल रम्यता पर मनुष्य का पुण्य कमाने का भाव हावी था । फलत: फलत: वहां का सारा प्राकृतिक सौन्दर्य जूठी पत्तलों में परिणत हो उठा था ।"[2]

1- साधु न चलै जमात - नरेश मेहता, पृष्ठ 41
2- वही, पृष्ठ 45

राजापुर, जो कि तुलसी-जन्म-स्थल है, उसका वर्णन करते हुए लेखक का अपनी धार्मिक सांस्कृतिक भूमि के प्रति अमित अनुराग प्रकट होता है --

" राजापुर की बस्ती में घुसते ही दाहिने हाथ एक " तुलसी स्मारक भवन है , पर हमें तुलसी जन्म-स्थल देखने की पड़ी थी । सच तो यह है कि मैंने कभी तुलसी जन्म-स्थल के इतने सुन्दर होने की कल्पना ही नहीं की थी । ढेरों सीढ़ियोंवाला एक बड़ा-सा पक्का घाट था । पास ही मानस के एक खण्ड (काण्ड) (शायद अयोध्या काण्ड) की पाण्डुलिपि हमें दिखलायी गयी । पाण्डुलिपि ढेरों कपड़ों की तहों में एक सेफ में बन्द रहती है । उसके चित्र आदि खींचें गए ।"[1]

द्वितीय - यात्रा

भागवत भूमि यात्रा के द्वितीय चरण में वृन्दावन से द्वारका , बरास्ता, नाथद्वारा और चित्तौड़ तक का गहन चिन्तन अनुस्यूत है । नरेश जी मथुरा पहुंचकर वहां के प्राचीन जलाशयों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए अपने सांस्कृतिक बोध को व्यक्त करते हैं --

" जिस जलाशय में कभी प्यास बुझायी जाती रही होगी प्रक्षालन किया जाता रहा होगा, इसकी विशाल सीढ़ियों पर बैठकर गायत्री की मालायें फेरी जाती रही होंगी, सूर्य को अर्घ्य दिया गया होगा, आज उसके चारों ओर उग आए विशाल पीपलें और हाथियों के लिए बनाए गए रपटीले, चौड़े पथरीले रास्तों पर मानवीय उपेक्षा रपटी पड़ी थी । अब इस दरारी पेटे के सम्य और चीजों के सड़ने की दुर्गन्ध आ रही थी । टूटी-झुकी कमरवाले वहां के खालीपन में सन्नाटा , हूं- हूं करता ब्रह्मराक्षस की तरह अघोरी बना मुंह चिढ़ा रहा था कि लो देखो । इतिहास के भी इतिहास इस कापालिक - पौराणिकता के अस्थि पंजर में मैं ही मुक्तिबोध की कविता की

1- साधु न चलै जमात , - नरेश मेहता, पृ० 53

पंक्ति हूं और अश्वत्थामा बनी वहां की हवा पाथरी दीवारों को पीटने लगती है ।*1

मथुरा के एक रईस की कोठी, उसकी बूढ़ी सीढ़ियां तथा तैल चित्रों वाले सेठों की भूषा आदि का निरूपण करते हुए रचनाकार वहां की मध्यकालीन संस्कृति को अनुरेखित करते हुए कहता है –

" तैल चित्रोंवाले सेठों की भूषा, गलमुच्छों और पगड़ियों से गत दो-तीन सौ वर्षों की ताजी मध्यकालीनता पहचानी जा सकती थी । उन तैल चित्रों में जैसे एक प्रकार का घिघियानापन था कि अब उनका नाम किस काम का । जब ये चित्र न होकर व्यक्ति रहे होंगे, तब कैसे-कैसे कन्नौजी इत्रों की महक आती होगी । +   +   + गले के माणिक मोती, पन्ने के हार कभी अलंकार रहे हों, पर आज तो स्वयं इन्हीं को मुंह चिढ़ाते लग रहे थे । *2

मथुरा के वासियों एवं ब्रजक्षेत्र की संस्कृति का जीवन्त-चित्र खींचते हुए नरेश जी कृष्ण माधुरी में मग्न हो जाते हैं --

" आज भी बड़े ही अविश्वसनीय रूप से ब्रजकाव्य की कृष्ण-माधुरी इस क्षेत्र की गली-गली, घाट-घाट में चंदनी, सुगंध देती मिल जायेगी । यद्यपि उदास एवं उपेक्षित कर जानेवाली आधुनिकता का दबाव और औद्योगिकता का प्रदूषण भी कम नहीं है । अभी भी उस ब्रज-रस में, कहीं किसी एकान्त कुटीर में (जो कि विरल हो गए हैं) राधा और कृष्ण युगल सरकार बने जयदेव के काव्य-प्रसंग जी रहे होंगे । पर इन आंखों से नहीं, सूर के नेत्रों से ही यह वृन्दावनता देखी जा सकती है । *3

नन्दगांव और बरसाना की संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए नरेश जी ने आलोच्य यात्रा वृत्त में लिखा है – " पहले नन्द गांव पड़ता

1- साधु न चले जमात – नरेश मेहता, पृष्ठ 64

2- वही, पृ० 65

3- वही, पृ० 67

है और तब बरसाना । + + + + गोकुल से नन्दगांव जाने की आवश्यकता नन्द बाबा को इसलिए पड़ी थी कि किसी शापवश कंस इधर नहीं आ सकता था । शायद इस स्थान परिवर्तन के कारण ही कृष्ण उस राधा के निकट हुए जो कालान्तर में उनकी उत्सव-शक्ति " उत्सवा " बनी । यह नैकट्य मंगलायतनी सिद्ध हुआ कि भारतीय कविता शीर्ष पर पहुंच गई । योगेश्वर कृष्ण महाभारत को भले ही प्रिय हों, पर काव्य को तो रासेश्वर कृष्ण ही प्रिय हुए । "[1]

वृन्दावन से अज्ञेय जी एक अश्वत्थ-प्रशाखा उसी यात्रा में ले आए थे और उज्जैन में " प्रभासतीर्थ " में रोप दिये थे । तत्सम्बंधित अपने सांस्कृतिक-प्रेम को व्यक्त करते हुए नरेश जी ने लिखा है —

" वात्स्यायन जी ने बड़े जतन से वृन्दावन एक अश्वत्थ-प्रशाखा लाए थे और जिसे प्राची में जहाँ कि प्रभु बाण-सिद्ध हुए थे, सम्मिलित रूप से रोपी गयी + + + इलाहाबाद में ही नहीं बल्कि आज उज्जैन में भी मुझे रोमांचित और प्रचालित कर रहा है कि हम प्रभासतीर्थ में एक वानस्पतिक आलेख धरती में लिख आए हैं, जो किसी दिन वृक्ष बनेगा और इतने सारे सर्जकों की आस्था का वह प्रतीक वृक्ष से अश्वत्थ बनेगा । मैं तो व्यक्ति ही रहूंगा नाशवान पर संभव है मेरी उस दिन की आस्था उस अश्वत्थ में बनस्पति पुराण बनकर शतजीवी हो ।"[2]

गुजराती की नरसी मेहता का प्रभाव आज भी गुजरात की संस्कृति में पूर्ण प्रभविष्णुता के साथ जीवन्त है । इस भावना का भाव-चित्र अनुरेखित करते हुए लेखक ने लिखा है —

" पूरे गुजरात की वैष्णव-आत्मा नरसी मेहता की काव्यात्मकता से उसी तरह निबद्ध है जैसी कि हिन्दी प्रदेश तुलसी, सूर या मीरा की काव्यात्मकता से है । नरसी मेहता का स्थान भी मौजूद है, उसे देव स्थान की प्रतिष्ठा प्राप्त है ।"[3]

1- साधु न चले जमात - नरेश मेहता, पृष्ठ 76

2- वही, पृष्ठ 83

3- वही, पृष्ठ 85

शैवत्व एवं वैष्णवता के ऐक्य पर अपनी सांस्कृतिक दृष्टि डालते हुए लेखक ने बताया है कि वैष्णवता और शैवत्व में मात्र साम्प्रदायिक भेद-दृष्टि है । तत्वत: दोनों एक ही है --

" सामान्यत: वैष्णवता और शैवत्व में साम्प्रदायिक भेद-दृष्टि से विचार किया जाता है, पर एक रचनाकार के रूप में मुझे तत्वत: दोनों एक ही लगते हैं । इनका जो स्वरूप- भेद है वह अतात्विक मानसिकता के कारण ही है । + + + तत्व का निष्काम रूप शिवत्व है, पर कल-कल निनादिनी भागीरथी रूप वैष्णवता है । यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाये, तो अच्युत और विच्युत (ताण्डव-संहार रूप) के सम्पुट में अखण्ड वैष्णव-लीला का विहार चल रहा है । शिवत्व का " लास्य " ही राम रूपमा वैष्णवता है ।"[1]

निष्कर्षत: दोनों यात्रा वृत्तों में अयोध्या , चित्रकूट एवं मथुरा वृन्दावन, नन्द गाँव, बरसाना गुजरात में प्रभास तीर्थ, जूनागढ़ के इतिहास आदि से जुड़ी सांस्कृतिक परम्पराओं पर संवेदनात्मक स्तर पर प्रकाश डाला गया है । सच तो यह है कि जैसे किसी पुष्प में उसकी सुरभि सन्निहित रहती है, उसी प्रकार नरेश जी की सर्जना में उनका सांस्कृतिक-बोध प्रतिबिम्बित होता रहता है ।

:::::

1-" साधु न चलै जमात " - नरेश मेहता, पृष्ठ 87

मुक्तिबोध - एक अवधूत कविता सांस्कृतिक अन्वेषण

श्री नरेश मेहता द्वारा रचित" मुक्तबोध, एक अवधूत कविता " - उनका एक संस्मरणात्मक आलेख है ।" अवधूत " - संसार से विरक्त, असंग साधु को कहते हैं । यहाँ इस शीर्षक से लेखक का तात्पर्य यह है कि मुक्तिबोध एक महान आत्मा थे, पुण्यात्मा थे और पौराणिक शब्दावली में एक असंग, सदाशिव धूर्जटी थे । वे तात्विक रूप से आद्यन्त महामानव थे, बड़े मनुष्य थे । मुक्तिबोध का बड़प्पन न तो संतों वाली असंगता था और न तो सम्पन्नतावाला औपचारिक आचरण । हाड़-मांसवाली उन सारी मानवीय उदात्तताओं और कमजोरियों से निर्मित तथा मुक्त उनका बड़प्पन पूर्णत: विश्वसनीय था । वे जैसे अपने दैनिक जीवन में दिखाई देते थे, वैसे ही अपनी कविता में भी । उनके जीवन और कविता में कोई अंतर नहीं था । अत: वे एक व्यक्ति न लगकर अपने कवि की तलाश करते स्वयं एक कविता लगते थे । अतएव नरेश जी ने उन्हें" एक अवधूत कविता" कहना ही उचित समझा । सचमुच यह शीर्षक अपने आपमें बड़ा ही सारगर्भित, व्यक्तित्व - व्यंजक एवं उपयुक्त है । लेखक की पारदर्शी दृष्टि प्रशंसनीय है । जौहरी ही " हीरे " की सच्ची परख कर सकता है । मुक्तिबोध तो नरेश जी के आत्मीय रहे हैं । वैचारिक असहमतियाँ अपनी जगह पर हो सकती हैं । मुक्तिबोध जी भी नरेश जी को खूब चाहते थे । मुक्तिबोध जी एक विद्रोही कवि थे । उनकी रचनात्मकता की मूलभूत नियोजना - बड़े-छोटे, आगे-पीछे के ढंग से पर्वतमाला की सी होती है । निरन्तर टूट और टकराव , उबाल उछालें और आक्रोश- परन्तु अपने प्रभाव में उसकी प्रकृति समुद्र की सी होती है ।

नरेश जी का सांस्कृतिक प्रेम उनकी अन्य रचनाओं की भाँति प्रस्तुत" संस्मरण आलेख " में भी यत्र-तत्र पर्याप्त उभर आया है । इसका मूल कारण यह है कि संसार की सारी आध्यात्मिकता और धार्मिकता की भी

वाहिका संवेदनशीलता ही है । मुक्तिबोध की " फंतासी " का वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए नरेश जी ने लिखा है -" काव्य की मानसिकता ही वह आधारभूत जीवन-दृष्टि है, जो मनुष्य को जहाँ " स्व " का बोध करवाती है, वहाँ वह उदात्त " पर " ही नहीं बल्कि " परात्पर " होने की प्रेरणा भी देती है । मुक्तिबोध में फंतासी का यह तत्व सब से अधिक प्रबल है । वह काव्य की ऊँचाई प्राप्त करने के लिए उसकी नींव की गहराई में उतरते हैं । इसीलिए उनमें आकाश-तत्व नहीं बल्कि पृथ्वी-तत्व की अधिकता होगी । इसीलिए उनके यहाँ प्रकाश की विस्तीर्णता न होकर अंधेरे की एकाग्रता होगी । शायद इसीलिए उनकी फंतासियों का यह संसार भयावह रूप से आदिम जैसा है ।"[1]

मुक्तिबोध के सर्जक व्यक्तित्व एवं रचना-संसार में साम्य बताते हुए नरेश जी का संस्कृति अनुराग अभिव्यक्त हो जाता है --

" एकरसता नहीं समरसता ही प्रकृति की प्रकृति है । यह सत्य या नियम जो कि सृष्टि के सन्दर्भ में " ऋत " कहलाता है, सर्जक व्यक्तित्व के सन्दर्भ में " प्रतिभा " है । इसलिए हर बड़े रचनाकार में एक ऋषि की त्रिकालदर्शिता भी होती है तथा पैगम्बरी मुद्रा या स्फूर्तता भी । काल को देखना ही द्रष्टा होना है । अपनी इसी ऋषीय या पैगम्बरी विराट् संवेदनशीलता तथा मानसिकता के संप्रेषण के लिए वह तरह-तरह के भाषायी बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों और फंतासियों का प्रयोग करता है ।"[2]

मुक्तिबोध की भाषा की अनगढ़ता में तेजस्विता बताते हुए नरेश जी भारतीय संस्कृति के " प्रतिमात्व " एवं " देवत्व " का वर्णन करते हुए लिखते हैं --

भाषा को अपनी सृजनात्मकता तक उठाने के लिए प्रत्येक शब्द को संभालना पड़ता है और मुक्तिबोध ने भी यही किया है । + + + केदारनाथ में जब मैंने प्रतिमा के नाम शिव लिंग भी न देखा और पाया कि मात्र चट्टान के

1- मुक्तिबोध : एक अवधूत कविता - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1988, पृष्ठ 12

2- वही, पृष्ठ 11,12

उभरेपन को ही देवत्व प्रदान कर दिया गया है तो मानवीय संकल्प शक्ति की क्षमता और प्रयोजन समझ में आए । इसी सन्दर्भ में मुक्तिबोध की भाषा प्रकृति को समझा जा सकता है कि यदि रचनाकार की तेजस्विता को, अस्मिता को कोई भी शब्द वहन नहीं कर पाता है तो भाषा को शब्दहीन बना दो, भाव स्वयं ही प्रतिष्ठित हो जायेगा जिस प्रकार प्रतिमा या लिंग न होने पर भी केदारनाथ (केदारेश्वर) सब से प्रमुख तीर्थ स्थानों में है, क्या इसी प्रकार भाषा का भाषात्व न होने पर भी मुक्तिबोध आज के प्रमुख कवि नहीं है ।'[1]

प्रस्तुत संस्मरण आलेख में मुक्तिबोध के विचारों पर उनके अपने संस्कारों का प्रभाव पड़ा है, इस परिप्रेक्ष्य में नरेश जी अपने सांस्कृतिक राग को व्यक्त करते हुए लिखते हैं --

' किसी भी रचनाकार की मानसिकता और वैचारिकता पर अपने संस्कारों, परम्पराओं और विशिष्टताओं का प्रभाव पड़ता ही है । + + + बनारस की गंगा को जल, बनारस से नहीं, गंगोत्री की दीर्घ परंपरा से ही प्राप्त होता है । इस आधारभूत स्रोत के बिना बनारस अपने जल से गंगा को गंगात्व देना तो दूर, काम लायक नदी भी नहीं बनाए रख सकता । प्रत्येक देश, जाति, कुल, परिवार के जहाँ अपने सामान्य मानवीय आचार-विचार, संस्कार, सभ्यता होती है, वहाँ कुछ विशिष्ट आस्था, मान्यता और वैचारिकता भी होती है, जिन्हें सांस्कृतिक-अवदान कहा जाता है ।'[2]

गजानन माधव मुक्तिबोध के आनुवंशिक परिचय का उल्लेख करते समय नरेश जी के सांस्कृतिक -बोध की अन्त: सलिला का अप्रतिहत वेग प्रस्फुटित हो पड़ता है । उनकी ब्राह्मणी आस्था का अस्स प्रवाहित हो उठता है - ' गजानन माधव मुक्तिबोध महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे, परन्तु निवासी मालवा के थे । ब्राह्मणों के पंचद्राविड़ वर्गीकरण में वह देशस्थ थे, कोंकणस्थ थे, या चित-पावन, इतनी सूक्ष्मता में उनके ब्राह्मणत्व के पड़ताल की आवश्यकता भी नहीं और न ही करनी

1-मुक्तिबोध : एक अवधूत कविता - पृष्ठ 15, वही

2- वही, पृष्ठ 17 ।

है । किसी पूर्वज ने समर्थ स्वामी रामदास के "दास-बोध" की ही भाँति "मुक्तिबोध" लिखा और वह प्रणयन ही कालान्तर में इस परिवार का अवटंक हो गया । प्रणयन की यह तेजस्विता किसी अन्य प्रणयन में आयी या नहीं, नहीं पता परन्तु पं० माधव मुक्तिबोध के दो पुत्रों में अवश्य आयी — गजानन और शरच्चन्द्र में । गजानन ने हिन्दी-काव्य को अपना क्षेत्र बनाया, जबकि शरच्चन्द्र मराठी में ही काव्य-सृजन किया । गजानन जी भाषा, भूषा और खानपान में ही महाराष्ट्रीय नहीं थे ।बल्कि उनके खरे, स्पष्ट और पारदर्शी व्यक्तित्व को देखकर भी कहा जा सकता था कि इस व्यक्तित्व में निश्चित ही महाराष्ट्र की स्पष्ट खनक है ।"[1]

सन् 1947 ई० में प्रयाग में "प्रगतिशील लेखक संघ" का दूसरा सम्मेलन हुआ । उसमें मुक्तिबोध जी भी उपस्थित थे । उसमें पार्टी के प्रवक्ता रूप में श्री रमेश सक्सेना ने कहा कि प्रगतिशील लेखकों कोपार्टी की सर्वोपरिता स्वीकारनी चाहिए । इस बात पर मुक्तिबोध जी उत्तेजित हो उठे, क्योंकि वे लेखकीय अस्मिता की स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे । इसी सन्दर्भ में मुक्तिबोध के "संस्कारगत - संकोच" पर प्रकाश डालते हुए नरेश जी आलोच्य पुस्तक में अपने संस्कृति विषयक-राग को व्यक्त करते हुए लिखते हैं -

"मुक्तिबोध में आधारभूत रूप से संस्कारगत संकोच था । लिखते समय वह जिस प्रकार प्रखर और समग्र होते थे, वैसे वह सभा-गोष्ठियों में नहीं । शायद शीलवश संकोच कर जाया करते थे । मित्रों के बीच भी उत्सुकता के क्षणों में भी संकोच का एक खास लटका तो होता था जिसके कारण उनके बारे में भ्रान्त या विपरीत धारणायें तक देखी-सुनी जाती थी ।"[2]

मुक्तिबोध के पारम्परिक महाराष्ट्रीय परिवार की संस्कृति का उल्लेख करते हुए नरेश जी ने आलोच्य ग्रन्थ में लिखा है —

1- मुक्तिबोध : एक अवधूत कविता, पृष्ठ 20, वही ।

2- वही, पृष्ठ 21,22 ।

" याद नहीं पड़ता कि वह (मुक्तिबोध) यज्ञोपवीत पहनते थे या नहीं, परन्तु सन्ध्या पूजा जैसा कोई नैमित्तिक कर्म करते कभी नहीं देखा । + + + ज्ञानेश्वरी ", " अभंग ", " गीता-रहस्य ", " रामचरितमानस " से लेकर मार्क्स फ्रायड, आइन्स्टीन और गांधी तक की विशाल-विस्तृत मानसिकता कभी भी एक सीधी-सपाट सरल रेखावाली मानसिकता नहीं हो सकती । शैव-दर्शन की गुणाढ्यता जब उपनिषदीय अध्यात्मक रहस्यमयता से आन्दोलित होकर, वैचारिक समझ को समेटे हुए सृजन की अकुलाहट लेकर टकराती है, तो आखिर है कि फंतासियाँ ही निर्मित होगी । मुक्तिबोध की कविता में भाषा का जो बाहुल्य है, वह ताण्डव करती उनकी कविता को संतुलित करने के लिए निनाद रूप में है ।"[1]

मुक्तिबोध के संस्कार एवं सर्जक व्यक्तित्व में दो स्थानों महाराष्ट्र तथा मालवा का सम्मिश्रण बताते हुए नरेश जी का सांस्कृतिक अनुराग प्रस्फुटित हुआ है —" ऐसा तपता हुआ आत्म-सम्मान , उन दो मिट्टियों का सम्मिश्रण था, जिन्हें महाराष्ट्र और मालवा कहते हैं । महाराष्ट्र आरम्भ होते हुए दक्षिण भारत का सिंहद्वार । महाराष्ट्र का पाण्डित्य और मालवा का लालित्य मुक्तिबोध के सर्जक व्यक्तित्व और उनके मनुष्य के आधारभूत तत्व थे । कई बार उस नीची झूलती पड़ती लकड़ी की छत के नीचे बैठे हुए क्रान्ति की मानसिकता के इस गृहस्थ योगी मुक्तिबोध को देखकर लगता कि यदि वह व्यक्ति अचानक खड़ा हो जायें, तो गृहस्थी और घर की मिट्टी को छोड़कर सहसा पूर्ण विकसित हो गए अपने प्रिय बिम्ब " बरगद " नहीं लगेंगे ? क्षिप्रा तट का सिद्धनाथ का वट-वृक्ष क्या है ? जो अपनी भूमि पर अंगूठे के बल खड़ा हो जाता है, वह वट-वृक्ष ही तो हो जाया करता है ।"[2]

मुक्तिबोध की शैव-वैचारिकता और अपनी वैष्णव वैचारिकता का अनुलेखन करते हुए नरेश जी का सांस्कृतिक बोध उमड़ पड़ता है। यथा-

---

1- मुक्तिबोध : एक अवधूत कविता, पृष्ठ 23, वही ।

2- वही, पृष्ठ 27 ।

"वैसे आज" शैव " या" वैष्णव " शब्दावली के द्वारा कुछ भी कहने का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि किसी भी सर्जक व्यक्तित्व को इस प्रकार की धार्मिक शब्दावली से न तो व्यक्त किया जा सकता है और न ही समझा जा सकता है। फिर भी मैंने इन दोनों विशेषणों को सदा व्यापक अर्थ में ही ग्रहण एवं प्रयुक्त किया है। इनकी धार्मिकता से मेरा कोई प्रयोजन नहीं रहा। अतः मुझे ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध अपनी वैचारिकता में शैव थे, परन्तु आचरण से वैष्णव जबकि मैं शायद वैचारिकता में वैष्णव रहा हूँ, पर आचरण से शैव। + + + यही सच है कि वह हताश वैष्णव थे, तो मैं भी हताश शैव रहा हूँ।"[1]

एक बार प्रातः ब्रह्म बेला में नरेश जी और मुक्तिबोध जागकर चल देते हैं। दोनों की पारस्परिक वार्ता का वर्णन करते हुए आलोच्य ग्रंथ में नरेश जी का संस्कृति मोह निम्नस्थ पंक्तियों में मुखरित हो उठा है -

" (मुक्तिबोध) - क्या बढ़िया ब्रह्म बेला है। आप तो वैदिक कवि हैं। आपको तो कम से कम इस बेला में नहीं सोना चाहिए।

-- पर यही समय ब्रह्म राक्षस का भी तो होता है और वह अपनी टिपिकल हँसी के साथ स्लेट की तरह चौड़ी हथेली फैलाते हुए कहते।

" अर्धरात्रि में ब्रह्म राक्षस और ब्रह्म मुहूर्त में ब्रह्म ठीक है न ? "[2]

सतपुड़ा पहाड़ की प्राकृतिक सुषमा तथा वहाँ की वनस्पतियों के सौन्दर्य का अनुलेखन करते हुए आलोच्य-आलेख में नरेश जी की वैदिकता एवं धार्मिक भावना हठात् व्यंजित हो उठी है -- चाहे वह सन्त प्रवर तुकाराम महाराज की आलन्दी हो या योगी ज्ञानेश्वर महाराज का सिद्धपीठ हो, या छत्रपति शिवाजी महाराज की मध्यकालीन ऐतिहासिकता हो या गरमी से तपते नंगे पैरोंवाली वारकर्म सम्प्रदाय की मायावरी भक्ति हो या धूप में काले पड़ गए महाराष्ट्री किसान पाटिल हो या त्रिपुण्ड लेपित भालवाले

1- मुक्तिबोध : एक अवधूत कविता, पृष्ठ 31

2- वही, पृष्ठ 52

पूना के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण हों देवा ।। देवा ।। पाण्डुरंगा ।। विट्ठल ।। - ऐसी धूप तपती चट्टानी आस्था ही गजानन माधव मुक्तिबोध की वंश परम्परा और संस्कार हो सकती थी, जिसे जन्म देने का श्रेय मालवा को मिला । केरल पत्थर की मोती ही तेजस्वी शुक्र को पुरुष रूप दे सकती थी ।"[1]

मुक्तिबोध के सन्दर्भ में महाराष्ट्रीय व्यक्तित्व की गरिमा का गान करते हुए नरेश जी का सांस्कृतिक-राग-बोध प्रकट हो उठा है --

" ज्ञान, शूरता और श्रम महाराष्ट्र के व्यक्तित्व के हाथ का त्रिशूल है, तभी तो महाराष्ट्र के आराध्य देव चाहे वह गणपति हों या दत्तात्रय, शिव रूप ही हो हैं । शैवागम शास्त्रीयता के साथ " रघुवीर-समर्थ " वाली कर्त्तव्यशीला वैष्णवता तो उसे प्रिय है, परन्तु लीलाभाव वाली श्रीकृष्ण की माधवी-लीला, भले ही गुजरात , मालवा, ब्रज, मथुरा, बंगाल, असम, उड़ीसा या मणिपुर तक को प्रिय हो, परन्तु महाराष्ट्र को नहीं ।"[2]

निष्कर्षतः यह कह सकता हूँ कि मुक्तिबोध । एक अवधूत कविता " नामक संस्मरण आलेख में नरेश जी ने यह निरूपित किया है कि मुक्तिबोध मुझे किस प्रकार प्रतीत हुए । यह आलेख उस मूल आलेख का परिवर्तित परिवर्द्धित एवं संशोधित स्वरूप है जो कि मई सन् 1981 ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की -- " निराला व्याख्यानमाला " में दो भाषणों के रूप में प्रस्तुत किया गया था । लेखक ने मुक्तिबोध को चरम अनाम्नता या उपेक्षा की स्थिति से लेकर परम यशस्वी होने तक के दो विपरीत ध्रुवों पर देखा और समकालीन होने के कारण उनके सर्जक व्यक्तित्व की विवेक संगत जांच पड़ताल भी की है । लेखक की दृष्टि में मुक्तिबोध सचमुच एक " अवधूत "," साधु "," महात्मा ", निश्छल एवं सहज रचनाकार सिद्ध हुए हैं ।

हमारे शोध-कार्य का विषय " रचनाकार- नरेश मेहता का सांस्कृतिक-बोध " है । अतएव आलोच्य ग्रंथ में लेखक की सांस्कृतिक दृष्टि की दिशा में ही मैंने प्रकाश डालने का प्रयास किया है । विषयान्तर होने के भय से सर्जना के अन्य वातायनों को झांकना उचित नहीं समझा ।

1-मुक्तिबोध : एक अवधूत कविता ,पृष्ठ 68 ।
2- वही, पृष्ठ 67 ।

उ प सं हा र

हमारी भारतीय संस्कृति सर्वसमावेशक रही है । उसने कभी किसी धर्म विशेष, पन्थ विशेष, राष्ट्र विशेष की बात नहीं कही । उसने समस्त भू-मण्डल को अपना " परिवार " माना और सब के कल्याण की कामना की । " वसुधैव कुटुम्बकम् " भारतीय संस्कृति की भूमिका है ।" सर्वे भवन्तु सुखिन: यह उसकी प्रार्थना है, विश्व मैत्री उसका स्वभाव है । भारतीय संस्कृति सागर सदृश है, जिसमें हर उपासना-पद्धति को, हर धर्म एवं पंथ को स्वीकार कर उन्हें अपना लेता है अर्थात् अपनी ही बना लेता है । इसीलिए यूनानी, पारसीक, शक, हूण आदि सभी इस विशाल सांस्कृतिक चेतना में समा योजित होते गए । यहाँ तक कि इस्लाम जो अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को लेकर चला था, वह भी भारत में आकर कुछ परिवर्तित हो गया ।

इसी उल्लिखित विशिष्टता के कारण हमारी सांस्कृतिक सम्पदा अकूत है । जो भी इसने प्रदीर्घकाल में संगृहीत हुआ, विकसित हुआ, वह सब हमारा है । इसमें वेद, उपनिषद्, शास्त्र, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता, त्रिपिटक, जैन-आगम, यूनानी -अरबी, ताजकीय ज्ञान-विज्ञान, असंख्य लोक-कथायें अनेक शैलियों के चित्र, शिल्प, स्थापत्य — भारत के साथ जुड़े हुए स्वदेशी-विदेशी विचार — ये सभी सम्मिलित हैं । एक दूसरे से पृथक दिखते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं । यही अनेकता में एकता है । यही हमारी संस्कृति के मूल स्वरों की पहचान है ।

" संस्कृति " शब्द का शाब्दिक अर्थ है — अच्छी स्थिति सुधरी हुई दशा । इस प्रकार संस्कृति से मानव की उस अवस्था का बोध होता है, जिसमें उसे सुधरा हुआ या परिष्कृत इत्यादि कहा जा सकता है ।" वस्तुत: संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह सदियों से जमा होकर ,उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं ।"

" भारतवासी जन-समुदायों का प्रचलित शील और रुचि भारतीय संस्कृति नहीं है , बल्कि उनकी शिष्ट-चेतना के द्वारा स्वीकृत मर्यादायें

और आदर्श को ही उनकी संस्कृति कहना चाहिए ।*

सारत: संस्कृति किसी समुदाय ,जाति ,देश अथवा राष्ट्र की आत्मा होती है । संस्कृति द्वारा जाति, समुदाय, देश अथवा राष्ट्र विशेष के उन समस्त संस्कारों का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने आदर्शों, जीवन-मूल्यों का निर्धारण करता है । संस्कृति एवं सभ्यता दोनों ही शब्दों का साधारण जन एक ही अर्थ लगाते हैं किन्तु विद्वज्जन इससे सहमत नहीं हैं ।* यदि भौतिक जीवन की संरचना को, श्रम और विश्राम की बाहरी व्यवस्था को " सभ्यता " कहा जाय, तो संस्कृति उसके आन्तरिक अर्थानुसंधान का नाम होगा । सभ्यता मूलत: सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से साधनों का संयोजन है, जबकि संस्कृति का अनुसंधान है ।*

भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को सारे संसार के लोग बड़े विस्मय से देखते हैं । भारतीय संस्कृति महा समुद्र के समान है, जिसमें अनेक नदियाँ आकर विलीन होती हैं । सभी विदेशी लोगों ने हमारी संस्कृति की पाचन-शक्ति के समक्ष घुटने टेक दिए और बड़ी ही शीघ्रता से वे हिन्दुत्व में विलीन हो गए । संक्षेपत: प्राचीनता, आध्यात्मिकता, धार्मिकता, समन्वयशीलता, सहिष्णुता वैविध्य में ऐक्य आदि हमारी भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं हैं ।

निष्कर्षत: भारतीय संस्कृति लोक-व्यवस्था एवं जन समुदाचार के परिवर्तनों का इतिहास मात्र न होकर, मूलत: सनातन-योग अथवा साधना की प्रतिनिविष्ट ऐतिहासिक परंपरा है । ज्ञान के क्षेत्र में इसका साक्ष्य " परा-विद्या ", कर्म के क्षेत्र में " धर्म " एवं अनुभूति के क्षेत्र में " रस " कहा जा सकता है । इस त्रिधारणा के अनुसार एक ही मौलिक " योग " ज्ञान-योग, कर्म-योग एवं भक्ति-योग के रूप में विभक्त हो जाता है ।

हम भारतवासी अपने देश पर गर्व करते हैं, परन्तु इसलिए नहीं कि वह सबसे बली और सम्पन्न है, अपितु इसलिए कि हमारी संस्कृति " महान थी और आज भी है ।

<u>नरेश मेहता के चिन्तन ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति की उपलब्धि</u> - वर्तमान युग के मूर्धन्य रचनाकार नरेश मेहता के चिन्तन ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति , संबंधित मान्यताओं को समझने के लिए उनके चिन्तन-ग्रन्थ " काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व " पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्य की बहु-आयामी सृजन धर्मिता को समझते हुए धर्म एवं दर्शन से उसके तादात्म्य को स्वीकारा है ,क्योंकि ऊर्ध्वगामी चेतनत्व की प्राप्ति उसके बिना संभव नहीं है ।

नरेश जी का मत है कि - " आंगलिकता से सांस्कृतिकता की ओर, देह से मन की ओर, जडत्व से चेतनत्व की ओर मानवीय -यात्रा सम्पन्न हुई -- इसका एकमात्र प्रमाण काव्य है । "

नरेश जी की काव्य-यात्रा का दूसरा और महत्वपूर्ण उपक्रम उनका प्रकृति साक्षात्कार है । उनके विचारानुसार प्रकृति की रम्यता ने उसे (मनुष्य को) उसकी द्विपदिक पशुता से ऊपर उठाकर मानवीय उदारता का बोध कराया होगा । जड़ और चेतन का " सम्बन्ध-सेतु " मनुष्य है । जब हमारी आर्षता जड़ और चेतन दोनों स्तरों पर " सोऽहं " (वह मैं हूं) का उद्घोष करती है, तब यही तात्पर्य है कि " एकाऽहं बहुस्याम " -- एक से अनेक (अनेक) होने की यह प्रक्रिया है ।

रचनाकार के सांस्कृतिक बोध ने यह पहचाना है कि हमारे देश के किसी भी अंश से " धर्म " को अलग नहीं किया जा सकता,क्योंकि केले के स्तम्भ की पर्तों की तरह देश की प्रत्येक पर्त में व्यापक अर्थ में धर्म दिखाई पड़ता है। काव्य,संगीत,नृत्य,चित्रकला आदि -- धर्म से बना है ।

जहां तक काव्य के वैष्णव व्यक्तित्व की बात है भक्तिकालीन कवियों एवं सन्तों ने " विष्णु " को " ईश्वर का एक रूप " या देवता माना । ईश्वरी सत्ता अवतार के रूप में पृथ्वी की बान्धवता, कुल-गोत्र को स्वीकार किया । काव्य का यह वैष्णव व्यक्तित्व दो आयामी है - राम और कृष्ण । मानवीय व्यक्तित्व में मर्यादा, कर्तव्य और लालित्य के -- दोनों दो परस्पर विरोधी पक्ष हैं ।

राम कथा का मूलाधार - मर्यादा है । इसीलिए कौटुम्बिकता, बन्धु- बान्धवता या राष्ट्र के प्रति उत्सर्गित मर्यादा का नाम ही " राम " है । इसीलिए वल्लभ सम्प्रदायी होने पर भी गाधी जी को राम ही आदर्श लगे ।

कृष्ण-कथा का मूलाधार " प्रेम " या लीला भाव है । कृष्ण का पति की अपेक्षा " प्रेमी रूप " ही अधिक चित्रित है ।

नरेश मेहता के काव्य में संस्कृति के तत्वों की सम्यक तलाश की गयी है । यह " तलाश " अग्रलिखित रूप में प्रतिबिम्बित हुई है -

(1) सांस्कृतिक -बोध का प्रथम आयाम वैदिक वातावरण के चित्रण से सम्बद्ध है ।

(2) दूसरा आयाम प्राकृतिक दृश्यों (चित्रों) के अलंकरण के लिए प्रतीक " अथवा उपमान के रूप में प्रयुक्त उपकरणों से व्यंजित होता है ।

(3) तीसरा आयाम कवि की चेतना में प्रतिबिम्बित होता है ।

(4) चौथा आयाम उदात्त मानव-मूल्यों के तर्क-वितर्क के पश्चात् दिए गए निष्कर्षों में समाविष्ट है ।

(5) पंचम आयाम व्यक्ति स्वातन्त्र्य की अस्मिता में मुखरित है ।

" उत्सवा " तथा " अरण्या " -

" उत्सवा की प्रत्येक कविता में रचना की हर पंक्ति में, पृथ्वी को स्वर्ग बनाने का एक " उत्सव " या " अनुष्ठान " प्रकृति सम्पन्न करती है । प्रकृति के साथ तदाकारता ही " पूजा " है । कवि ने प्रकृति में (सृष्टि में) धूर्जटी का लीला भाव देखा है । यायावर महाकाल ही वैष्णव बनकर धरती पर उतरा है ।" व्यक्तित्व की वृन्दावनता " धरित्री की सरस्वती गन्धता ", " अग्नि की गैरिक करुणा " " पीपल की वासुदेविक प्रणम्यता " एवं " कुश की आदि अनूठे वैदिक - औपनिषदिक उपमान कवि की सांस्कृतिक दृष्टि के द्योतक हैं।

" पृथ्वी " मूक भाव से प्रार्थना करती हुई भागवत-कथा में बदल जाती है । सारी कविताएं वैष्णवता की आस्तिक -भूमि पर प्रतिष्ठित है ।

" अरण्या " में कवि का वैचारिक औपनिषादिक वर्चस्व पृथ्वी की निरीह करुणा में धुलकर तरल हो उठा है ।" अरण्या " में उस प्रकृति से मानवी चेतना में वापसी है । इसमें कवि मनुष्य की साधारणता में" विराट को पाने के लिए उत्सुक है । पृथ्वी पर मनुष्य जब व्यक्ति का नहीं, वैराट्य का प्रतीक होता है, तब" देवता " बनता है । जो हमारा नित्य एवं कालातीत स्वरूप है, वही देवत्व है । सारांशत:" अरण्या " की कविताएं पृथ्वी पर ही केन्द्रित है । कवि ने वानप्रस्थी भाव लेकर अरण्य में प्रवेश नहीं किया है । उसने अरण्य को अरण्या-भाव " अर्थात् फल-फूल से संपन्न, फलते- फूलते वानस्पतिक रूप में परिणत किया है ।

नरेश जी के खण्ड-काव्यों में पौराणिक सन्दर्भों के माध्यम से (मिथकीय आधार पर) भारतीय संस्कृति के तत्वों की पहचान की गयी है । " मिथक " किसी जाति की संस्कृति के गहरे स्रोत होते हैं । वे अतीत से वर्तमान तक और वर्तमान से भविष्य तक अपनी प्रवह मानता बनाए रहते हैं । किसी भी भारतीय के लिए" राम "," कृष्ण ", " शिव " आदि ऐसे प्रेरक शब्द हैं जिनके उच्चारण मात्र से उसके हृदय में स्फुरण होने लगता है । अतीत के पौराणिक आख्यानों से हम बार-बार नया प्रकाश पाते हैं ।

" संशय की एक रात " - इस काव्य में राम को प्रश्नाकुल एवं विभाजित व्यक्तित्व वाले" प्रज्ञा पुरुष " के रूप में प्रस्तुत किया गया है । वाल्मीकि से लेकर तुलसी तक - राम का चरित प्रबन्ध काव्य की जितनी ऊँचाइयों पर जितना चढ़ सका, उससे आगे अभिव्यक्त करने को कुछ खास नहीं बचा किन्तु " राम" का युगातीत" पुरुषत्व" अवश्य बच गया । इसी वैचारिक व्यक्तित्व की कमी की पूर्ति" संशय की एक रात " में नए सन्दर्भों एवं आधुनिक काल की जटिल समस्यों के परिप्रेक्ष्य में कवि ने करने की चेष्टा की है । अन्तत: इस काव्य में कवि

" राम " को महाकाव्य के प्रतीक रूप में विश्लेषित कर उन्हें" न्याय ", " सत्य " मानवतावाद" आदि उदात्त मानव-मूल्यों की रक्षा के लिए युद्धार्थ प्रेरित किया है ।

" महाप्रस्थान " - " महाप्रस्थान" पूरी नयी कविता का सर्वाधिक बहु-चर्चित खण्ड-काव्य है । इस काव्य में पाण्डवों के निर्वाण के कथानक को लेकर इसमें अनेक आधुनिक समस्याओं की प्रस्तुति समकालीन परिवेश की पृष्ठभूमि पर की गई है

" प्रवाद-पर्व " - इसमें कवि ने" लोकतन्त्र बनाम राजतन्त्र " या " व्यक्ति और प्रशासन " की समस्या पर प्रश्न चिन्ह लगाया है । एक साधारण अनाम " धोबी " सीता की चरित्र-मर्यादा पर अंगुली उठा देता है । राम की दृष्टि में यह उसका अधिकार है किन्तु राज्य के नियमानुसार वही गंभीर अपराध है । इसी" ऊहापोह " या विवाद को हल करने की अभिव्यंजना इस खण्ड काव्य में नए सन्दर्भों में हुई है । इसी विवाद को हल करने के प्रयत्न में कवि ने अनेक और भी प्रश्न उठाए हैं, जैसे" व्यक्ति- स्वातंत्र्य" अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य" और इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों से जूझता हुआ - व्यक्ति और प्रशासक " के प्रश्नों पर भी विचार किया है ।

" शबरी " - इसमें सांस्कृतिक एवं पौराणिक पृष्ठाधार पर" वर्ण-व्यवस्था " के प्रश्न को उठाया गया है, जो आज की ही नहीं प्राचीन-काल से विकट समस्या बनी हुई एक ज्वलन्त प्रश्न है । साथ ही कवि ने सिद्ध किया है कि अन्त्यज जाति से संबंधित व्यक्ति भी अपने कर्मों से ऊर्ध्वता को प्राप्त कर सकता है । शूद्र कुलोत्पन्ना शबरी अपने श्रम, कर्म एवं पावन आचरण से आत्मोत्थान की पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है । व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता या मूल्यवत्ता को गहरी प्रतिष्ठा देना ही कवि का मन्तव्य है ।

" उपन्यास " - वर्तमान काल में हमारे हिन्दी साहित्य में उपन्यास का जो ढांचा है, वह पश्चिम के" नावेल " का ही ढांचा है । पहली बार पाश्चात्य-संस्कृति ने हमारे" सोच " और " लेखन " को भीतर और बाहर से प्रभावित किया है । पश्चिम ही हमारा" आदर्श" और हमारे लिए" अनुकरणीय" बन गया ।

पाश्चात्य एवं भारतीय कथात्मक अवधारणा में पर्याप्त अन्तर है । पश्चिम मानता है कि काल की गति लम्बवत् होती है । वह एक सरल रेखा में गमन करता है और यह रेखा काल की अवधि कितनी ही प्रदीर्घ क्यों न हो, समाप्त भी होगी । अत: इस धारणा के अनुसार हम अपने " अतीत " को लौटा कर नहीं ला सकते ।

इसके विपरीत " काल " की हम भारतीय अवधारणा " चक्रीय " है । इस अवधारणा में हर विन्दु प्रारंभिक विन्दु है । जहां कोई घटना समाप्त होती है, वहीं आरंभ का नया विन्दु भी है । इस भारतीय अवधारणा में सात्यत्य है और यह आवृत्तिपरक है ।

हमारा भारतीय कथा-साहित्य भी " आवृत्तिपरक " अथवा चक्रीय " है । जहां से कथा का आवर्तन होता है । कथा अन्त में फिर वहीं लौट आती है । इस " महावृत्त " में कथाओं के अनेक " लघुवृत्त " बनते जाते हैं । कथाओं के भीतर कई कथाओं का विकास होता है । " कथा-सरित-सागर " तथा " पन्चतन्त्र " आदि का कथा-शिल्प भी यही है ।

यही कथा-शिल्प नरेश मेहता के उपन्यासों का भी है । कथाओं में कथाएं अनुस्यूत है । इस चक्रीय गति में चूंकि अन्त नहीं है । इसीलिए भारतीय चिन्तन में मृत्यु को " देहान्तर " कहा गया है । जहां मृत्यु होती है, उसी विन्दु पर " पुनर्जन्म " होता है । सारांश यह है कि नरेश मेहता के उपन्यासों का " कथा-शिल्प " भारतीय सांस्कृतिक अवधारणा का अनुपालन करता है ।

नरेश जी के कुल सात उपन्यास हैं - 1) डूबते मस्तूल 2- नदी यशस्वी है 3- दो एकान्त 4- धूमकेतु : एक श्रुति 5- यह पथ बन्धु था 6- उत्तर कथा और 7- प्रथम फाल्गुन ।

परिस्थितियों के संघात से टूटती बनती एक अप्रतिम सुन्दरी रंजना " नामक नारी की विवश-गाथा का प्रतीक नाम है - डूबते मस्तूल " । इसमें निष्कर्षित किया गया है कि युगीन यथार्थ के कठोर प्रहार से हमारे परम्परागत सांस्कृतिक मूल्य आहत हो रहे हैं ।

नदी यशस्वी है - इसका "नायक" उदयन" आदर्श मूल्यों को परम्परानुसार ग्रहण कर सांस्कृतिक मूल्यों में आस्था रखता हुआ नैतिकता का ही पक्ष समर्थन करता है । सारत: इसमें सांस्कृतिक एवं परम्परागत सामाजिक मूल्यों में निष्ठा प्रदर्शित की गयी है ।

" दो एकान्त " - विवेक तथा वानीरा इस उपन्यास के नायक एवं नायिका हैं । विवेक" भारतीय संस्कृति" और वानीरा" पाश्चात्य संस्कृति" की सम्पोषिका है । इस प्रकार इसमें दो विरोधिनी संस्कृतियों की टकराहट है । विवेक लेखक के शब्दों में" वृक्ष वृत्ति " परोपकारी, सदाचारी एवं सुखद छायायुक्त है तथा वानीरा -" मेघ-वृत्ति" की है - सजल तथा स्वच्छन्द । सारांशत: नरेश मेहता की मानसिकता जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति में निष्ठा रखती है वहीं वर्तमान यथार्थ बोध को भी स्वीकारती है, नकारती नहीं है ।

धूमकेतु : एक श्रुति " - इसमें कथा नाम की कोई घटना या वस्तु नहीं है । केवल स्मृतियाँ हैं जो" परिवार" ; समाज" और परिवेश को जोड़कर एक जीवन और जगत के संघर्ष को उभारती है । इसमें परम्परागत सांस्कृति मूल्यों की उपलब्धि होती है, जो सामाजिकता को नवीन परिष्करण से ग्रहण करने के स्थान पर स्थापित मूल्यों को प्रतिष्ठा देता है । इसकी" नायिका कालिन्दी" वेश्या होते हुए भी पवित्र है । वह" मर्यादा " तथा" नैतिकता " के सांस्कृतिक मूल्यों का उद्घाटन करती है ।

यह पथ बन्धु था " - इस उपन्यास का नायक श्रीधर, उसकी पत्नी सरो, आदि प्रमुख पात्र शाश्वत-मूल्यों - नैतिकता, न्याय, सत्य, ईमानदारी, मानवता आदि आदर्शों के पीछे जीवन भर जूझते रहते हैं किन्तु अन्त में निराशा, हताशा एवं उदासी ही उनके हाथ लगती है । उपन्यासकार ने दिखाया है कि आज आदर्श खोखले और निरर्थक हो गए हैं । यही नहीं कि मूल्य टूट रहे हैं बल्कि सत्य, नैतिकता, ईमानदारी, कर्तव्य निष्ठा आदि निस्सार एवं अर्थहीन होते जा रहे हैं । सत्य, सर्वदा से बलिदान होता आया है । अस्तु इसमें सम-सामयिक संकट के माध्यम से" सांस्कृतिक संकट" को इंगित किया गया है । यह पथ तो किसी न किसी प्रकार मानवता का बन्धु था ।

"उत्तर-कथा" उपन्यास मालवा का" भागवत जी "(श्रीमद्भागवत पुराण) है । यह औपन्यासिक कृति मालवा के लोगों को, उस मालवा और मालवा की संपूर्ण सामाजिकता को तदाकार करवाती है - जो कभी था और अब लगभग नहीं है । यह उपन्यास" न होने के बीच " होने का प्रामाणिक दस्तावेज है । आधुनिकता के दबाव के कारण, आज के जीवन की आपाधापी और बिखराव में अब मालवा वह" मालवा" नहीं रह गया है । आधुनिक बनने की उत्कट अभिलाषा में हमने अपनी निजता और अस्मिता को ही खो डाला है । यही प्रदर्शित करना इस उपन्यास का कथ्य है ।

"प्रथम फाल्गुन " उपन्यास में भारतीय संस्कृति पर पड़े पाश्चात्य संस्कृति के अपरिहार्य प्रभाव को संकेतित किया गया है साथ ही" आभिजात्य संस्कृति" तथा" नवीन भारतीय संस्कृति" के विविध आयामों को भी प्रसंगानुसार उद्घाटित किया गया है । इसका नायक" महिम" भारतीय संस्कृति की मान्यताओं के प्रति पूर्णत: निष्ठावान है । इसीलिए" गोपा " को किसी अनाम की जारज सन्तान ज्ञात होने पर उपेक्षित कर देता है ।" वर्ण- संकरी - विवाह " में अनास्था व्यक्त करता है ।

" मुक्तिबोध : एक अवधूत कविता " - नरेश जी ?? का एक संस्मरणात्मक आलेख है ।" अवधूत " संसार से विरक्त साधु, असंग साधु को कहते हैं । मुक्तिबोध एक महान आत्मा थे, पुण्यात्मा थे और पौराणिक शब्दावली में एक असंग, सदाशिव धूर्जटी थे । वे जैसे अपने दैनिक जीवन में दिखाई देते थे, वैसे ही अपनी कविता में भी । उनके जीवन और कविता में कोई अन्तर नहीं था । अत: लेखक ने उन्हें एक अवधूत कविता ही कहना उचित समझा ।

लेखक ने इस सत्य को स्वीकारा है कि गजानन माधव मुक्तिबोध की सर्जना पर उनकी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । मुक्तिबोध के संस्कार एवं सर्जक व्यक्तित्व में दो स्थानों" महाराष्ट्र " एवं "मालवा " का सम्मिश्रण है । वैचारिकता में मुक्तिबोध" शैव " थे किन्तु आचरण में वैष्णव जैसे दिखाई पड़ते थे । लेखक ने मुक्तिबोध को चरम अनासक्ता या उपेक्षा

की स्थिति से लेकर परम यशस्वी होने तक के दो विपरीत ध्रुवों पर देखा और समकालीन होने के कारण उनके सर्जक व्यक्तित्व की विवेक संगत जाँच पड़ताल भी की है ।

" शब्द-पुरुष-अज्ञेय " भी एक संस्मरणात्मक आलेख है । यह अज्ञेय जी के सर्जक व्यक्तित्व का आकलन नहीं अपितु स्मरण है ।

आलोच्य आलेख में लेखक ने इस सत्य को परिभाषित किया है कि कवि-कर्म की सब से बड़ी कसौटी भाषा है । यदि कोई सत्ता है तो वश मात्र शब्द की । शब्द से इतर ब्रह्म जैसी सत्ता पाखण्ड है, अवैज्ञानिक है । शब्द से इतर कविता संभव ही नहीं है । शब्द-पुरुष अज्ञेय के शब्दों में - आज भी मेरे सामने जो समस्या है और जिसका हल पाना, मैं अपने कवि-जीवन की चरम उपलब्धि मानूंगा- वह अर्थवान शब्द की समस्या है ।"

सारांश यही है कि अज्ञेय जी अप्रतिम शब्द मर्मज्ञ थे । शब्दों के प्रति उनकी सजगता सर्वथा संस्तुत्य है । इसी सन्दर्भ में लेखक ने अपनी सांस्कृतिक निष्ठा को यथास्थान प्रदर्शित किया है । अपने ढंग का यह हिन्दी में सर्वाधिक जीवन्त संस्मरण आलेख है ।

" साधु न चले जमात " - एक साहित्यिक नूतन यात्रा-वृत है । इसमें दो यात्रा वृत हैं । एक अयोध्या से चित्रकूट तथा दूसरा मथुरा, वृन्दावन, नन्दगाँव, बरसाना के साथ-साथ उज्जैन के प्रभासतीर्थ एवं जूनागढ़ के इतिहास का चिन्तनपूर्ण विवेचन है ।

ये यात्रा-वृत्तान्त मात्र विवरणात्मक नहीं है । इसमें लेखक के गहन चिन्तन, संस्कृति, अन्वेषण एवं सम्यक जीवन दृष्टि को भी उजागर करने का उपक्रम है ।

0000000

सन्दर्भ - ग्रन्थ - सूची

1- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व - नरेश मेहता
2- दूसरा सप्तक - अज्ञेय
3- नयी कविता की मानक कृतियाँ - डा० जीवन प्रकाश जोशी
4- नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर - डा० सन्तोष कुमार तिवारी
5- मेहता काव्य : विमर्श और मूल्यांकन - श्री प्रभाकर शर्मा
6- कवि श्री नरेश मेहता तथा उनका काव्य - डा० विष्णु प्रभा शर्मा
7- नरेश मेहता का काव्य प्रवृत्ति विश्लेषण - श्री प्रभाकर शर्मा
8- महा प्रस्थान (शोध ग्रन्थ) डा० विष्णु प्रभा शर्मा
9- महा प्रस्थान - नरेश मेहता
10- उत्सवा - ,,
11- अरण्या - ,,
12- प्रवाद पर्व - ,,
13- शबरी - ,,
14- यह पथ बन्धु था - ,,
15- दो एकान्त - ,,
16- धूमकेतु : एक श्रुति - ,,
17- नदी यशस्वी है - ,,
18- डूबते मस्तूल - ,,
19- प्रथम फाल्गुन - ,,
20- उत्तर-कथा (दो भाग) - ,,
21- संशय की एक रात - ,,
22- साधु न चलै जमात - ,,
23- शब्द पुरुष -अज्ञेय - ,,

24- मुक्तिबोध : एक अवधूत कविता - नरेश मेहता
25- आधुनिकता से आगे - नरेश मेहता - डा० मीरा श्रीवास्तव
26- नरेश मेहता : कविता की ऊर्ध्वयात्रा - डा० राम कमल राय
27- महाभारत - शान्ति पर्व
28- कुमार सम्भवम् - कालिदास प्रथम सर्ग
29- बी० जी० गोखले - इंडियन थॉट थ्रू द एजेज
30- सामाजिक विचारधारा : कांट से गांधी तक - रवीन्द्र नाथ मुकर्जी
31- विवेचना - (संकलन) - नेमिचन्द्र जैन
32- नयी कविता (पहला अंक) डा० जगदीश गुप्त और डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी
33- नयी कविता (दूसरा अंक) ,, ,,
34- नयी कविता (तीसरा, चौथा, पांचवां अंक) - डा० जगदीश गुप्त
35- नयी कविता (छठां, सातवां, आठवां अंक) - डा० जगदीश गुप्त
36- नरेश मेहता : एक एकान्त शिखर - प्रमोद तिवारी
37- हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य - डा० राम कमल राय
38- बोलने दो चीड़ को - नरेश मेहता
39- वनपाखी सुनो - ,,
40- तुम मेरा मौन - ,,
41- चलना एक दिन - ,,
42- आखिर समुद्र से तात्पर्य - ,,
43- पिछले दिनों नंगे पैर - ,,
44- भारतीय परंपरा के मूल स्वर - डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय
45- भारतीय संस्कृति - वात्स्यायन - विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1978
46- संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर
47- हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ - डा० शशिभूषण सिंघल
48- यह पथ बन्धु था - एक अध्ययन - डा० सत्य प्रकाश मिश्र
49- साठोत्तरी कथा-साहित्य में मानव मूल्य की अवधारणा - शोधग्रन्थ - श्री शैलेन्द्र सिंह
50- साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना - डा० जितेन्द्र 'वत्स'

51- मन्नू भण्डारी का कथा-साहित्य - गुलाब हाड़े
52- मानस - कथा- कोश - श्री सूर्यभान सिंह
53- पौराणिक - कथा-कोश - ,,
54- भारतीय संस्कृति और साहित्य - डा० मनमोहन शर्मा
55- कला और संस्कृति - डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
56- भारतीय संस्कृति और उसकी विशेषताएं - डा० करुणा गंगले
57- भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना - डा० रामखेलावन पाण्डेय
58- भगवद् गीता
59- स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानव मूल्य और उपलब्धियां
डा० भगीरथ बडोले
60- आज का हिन्दी उपन्यास - डा० इन्द्र नाथ मदान
61- आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा० बच्चन सिंह
62- आधुनिक हिन्दी कविता में विचार - बलदेव वंशी, दिल्ली, 1963।
63- आधुनिक हिन्दी उपन्यास - नरेन्द्र मोहन
64- आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - राम विनोद सिंह
65- भारतीय संस्कृति का इतिहास - श्री स्कन्द कुमार मोतीलाल.
66- मानव-मूल्य और इतिहास - डा० धर्मवीर भारती
67- साहित्य-दर्शन - जानकी वल्लभ शास्त्री
68- हिन्दी उपन्यास : प्रेम और जीवन - शान्ति भारद्वाज
69- हिन्दी उपन्यास साहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन - डा० रमेश तिवारी
70- हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा० राममूर्ति त्रिपाठी
71- हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा - डा० रामदरश मिश्र
72- संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर - सं० रामचन्द्र वर्मा
73- हिन्दी साहित्य कोश - डा० धीरेन्द्र वर्मा
74- संस्कृत हिन्दी कोश - शिवराम वामन आप्टे
75- अकविता और कला सन्दर्भ - श्याम परमार

76- हिन्दी साहित्य : नयी रचनाशीलता - सतीश जमाली

77- आलोचना (पत्रिका) नामवर सिंह ,नई दिल्ली (त्रैमासिक)

78- धर्मयुग - डा० धर्मवीर भारती

79- कल्पना - बद्री विशाल पित्ती,मासिक, हैदराबाद

80- कथान्तर - अमर गोस्वामी

81- नयी धारा - उदयराज सिंह पटना, त्रैमासिक

82- सारिका - कमलेश्वर (पाक्षिक)